राजयोग

(पातंजल-योगसूत्र, सूत्रार्थ और व्याख्या सहित)

स्वामी विवेकानन्द

(तृतीय संस्करण)

श्रीरामकृष्ण आश्रम,
धन्तोली, नागपुर-१.

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक का यह नवीन तृतीय सस्करण पाठको के हाथ में रखते हुए हमें बडी प्रसन्नता हो रही है। इस पुस्तक मे पातजल-योगसूत्र, उन सूत्रों के अर्थ और उन पर स्वामी विवेकानन्दजी की टीका भी सम्मिलित है। पातजल-योगदर्शन एक विश्व-विख्यात ग्रन्थ है और हिन्दुओ के सारे मनोविज्ञान की नींव है। इसीलिए स्वामीजी स्वय इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पर टीका लिख गए हैं। इस ग्रन्थ की माँग, विशेषकर स्वामीजी की टीका सहित, हिन्दी-जनता बहुत अरसे से कर रही थी। परमात्मा की कृपा से हम पाठको की माँग पूरी करने में सफल हो सके—इसका हमे विशेष आनन्द है।

प्रत्येक व्यक्ति में अनन्त ज्ञान और शक्ति का आवास है। राजयोग उन्हें जागृत करने का मार्ग प्रदर्शित करता है। इसका एकमात्र उद्देश्य है—मनुष्य के मन को एकाग्र कर उसे 'समाधि' नामवाली पूर्ण एकाग्रता की अवस्था में पहुँचा देना। स्वभाव से ही मानव-मन अतिशय चचल है। वह एक क्षण भी किसी वस्तु पर ठहर नही सकता। इस मन की चचलता को नष्ट कर उसे किस प्रकार अपने काबू मे लाना, किस प्रकार उसकी इतस्तत बिखरी हुई शक्तियो को समेटकर सर्वोच्च ध्येय में एकाग्र कर देना—यही राजयोग का विषय है। जो साधक प्राण का सयम कर, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान द्वारा इस समाधि-अवस्था की प्राप्ति करना चाहते हैं, उनके लिए यह ग्रन्थ बडा उपादेय सिद्ध होगा।

इस पुस्तक के आरम्भ से लेकर १०५ पृष्ठ तक का अनुवाद पण्डित सूर्यकान्तजी त्रिपाठी 'निराला' ने किया है। उनके इस बहुमूल्य कार्य के लिए हम उनके परम कृतज्ञ हैं।

१०६ पृष्ठ से लेकर पुस्तक का शेष सब अंश (पातंजल-योगसूत्र को मिलाकर) प्राध्यापक श्री दिनेशचन्द्रजी गुह, एम ए, द्वारा अनुवादित हुआ है। उनके भी प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

हमें विश्वास है कि धर्म को व्यावहारिक जीवन में उतारने के प्रयत्नशील लोगो के लिए यह पुस्तक अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होगी।

नागपुर,
१-५-१९६१

—प्रकाशक

अनुक्रमणिका

"प्रत्येक आत्मा अ-व्यक्त ब्रह्म है।

बाह्य एव अन्त.प्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है।

कर्म, उपासना, मन सयम अथवा ज्ञान, इनमे से एक, एक से अधिक या सभी उपायो का सहारा लेकर अपना ब्रह्मभाव व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ।

बस यही धर्म का सर्वस्व है। मत, अनुष्ठान-पद्धति, शास्त्र, मन्दिर अथवा अन्य बाह्य क्रिया-कलाप तो उसके गौण अग-प्रत्यग मात्र हैं।"

—विवेकानन्द

भूमिका

ऐतिहासिक जगत् के प्रारम्भ से लेकर वर्तमान काल तक मानव समाज मे अनेक अलौकिक घटनाओ के उल्लेख देखने को मिलते है। आज भी, जो समाज आधुनिक विज्ञान के भरपूर आलोक में रह रहे है, उनमें भी ऐसी घटनाओ की गवाही देनेवाले लोगो की कमी नही। पर हाँ, ऐसे प्रमाणो मे अधिकाश विश्वास-योग्य नही, क्योंकि जिन व्यक्तियो से ऐसे प्रमाण मिलते है, उनमें से बहुतेरे अज्ञ है, कुसस्काराच्छन्न है अथवा धूर्त है।[1] बहुधा यह भी देखा जाता है कि लोग जिन घटनाओ को अलौकिक कहते है, वे वास्तव में नकल है। पर प्रश्न उठता है, किसकी नकल? यथार्थ अनुसन्धान किए बिना कोई बात बिलकुल उडा देना सत्यप्रिय वैज्ञानिक-मन का परिचय नही देता। जो वैज्ञानिक सूक्ष्मदर्शी नही, वे मनोरज्य की नाना प्रकार की अलौकिक घटनाओ की व्याख्या करने में असमर्थ हो उन सबका अस्तित्व ही उडा देने का प्रयत्न करते है। अतएव वे तो उन व्यक्तियो से अधिक दोषी है, जो सोचते है कि बादलो के ऊपर अवस्थित कोई पुरुषविशेष या बहुतसे पुरुषगण उनकी प्रार्थनाओ को सुनते है और उनके उत्तर देते है—अथवा उन लोगो से, जिनका विश्वास है कि ये पुरुष उनकी प्रार्थनाओ के कारण ससार का नियम ही बदल देंगे। क्योकि इन बाद के व्यक्तियो के सम्बन्ध में यह दोहाई दी जा सकती है कि वे अज्ञानी है, अथवा कम-से-कम यह कि उनकी शिक्षा-प्रणाली दूषित रही है, जिसने उन्हे ऐसे अप्राकृतिक पुरुषो का सहारा लेने की सीख दी और जो निर्भरता अब उनके अवनत-स्वभाव का एक अग ही बन गई है। पर पूर्वोक्त शिक्षित व्यक्तियो के लिए तो ऐसी किसी दोहाई की गुजाइश नही।

हजारो वर्षो से लोगो ने ऐसी अलौकिक घटनाओ का पर्यवेक्षण किया है, उनके सम्बन्ध में विशेष रूप से चिन्तन किया है और फिर उनमें से कुछ साधारण तत्त्व निकाले है, यहाँ तक कि, मनुष्य की धर्म-प्रवृत्ति की

आधारभूमि पर भी विशेष रूप से, अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ, विचार किया गया है। इन समस्त चिन्तन और विचारो का फल यह राजयोग विद्या है। यह राजयोग आजकल के अधिकाश वैज्ञानिको की अक्षम्य धारा का अवलम्बन नही करता—वह उनकी भाँति उन घटनाओ के अस्तित्व को एकदम उडा नही देता, जिनकी व्याख्या दुरूह हो, प्रत्युत वह तो धीर भाव से, पर स्पष्ट शब्दो में, अन्धविश्वास से भरे व्यक्ति को बता देता है कि यद्यपि अलौकिक घटनाएँ, प्रार्थनाओ की पूर्ति और विश्वास की शक्ति ये सब सत्य है, तथापि इनका स्पष्टीकरण ऐसी कुसस्कार-भरी व्याख्या द्वारा नही हो सकता कि ये सब व्यापार बादलो के ऊपर अवस्थित किसी व्यक्ति या कुछ व्यक्तियो द्वारा सम्पन्न होते है। वह घोषणा करता है कि प्रत्येक मनुष्य, सारी मानव-जाति के पीछे वर्तमान ज्ञान और शक्ति के अनन्त सागर की एक क्षुद्र प्रणाली मात्र है। वह शिक्षा देता है कि जिस प्रकार वासनाएँ और अभाव मानव के अन्तर में है, उसी प्रकार उसके भीतर ही उन अभावो के मोचन की शक्ति भी है, और जहाँ कही और जब कभी किसी वासना, अभाव या प्रार्थना की पूर्ति होती है, तो समझना होगा कि वह इस अनन्त भाण्डार से ही पूर्ण होती है, किसी अप्राकृतिक पुरुष से नही। अप्राकृतिक पुरुषो की भावना मानव में कार्य की शक्ति को भले ही कुछ परिमाण में उद्दीप्त कर देती हो, पर उससे आध्यात्मिक अवनति भी आती है। उससे स्वाधीनता चली जाती है, भय और कुसस्कार हृदय पर अधिकार जमा लेते है तथा 'मनुष्य स्वभाव से ही दुर्बलप्रकृति है' ऐसा भयकर विश्वास हममें घर कर लेता है। योगी कहते है कि अप्राकृतिक नाम की कोई चीज नही है, पर हाँ, प्रकृति में दो प्रकार की अभिव्यक्तियाँ है—एक है स्थूल और दूसरी, सूक्ष्म। सूक्ष्म कारण है और स्थूल, कार्य। स्थूल सहज ही इन्द्रियो द्वारा उपलब्ध की जा सकती है, पर सूक्ष्म नही। राजयोग के अभ्यास से सूक्ष्म की अनुभूति अर्जित होती रहती है।

भारतवर्ष में जितने वेदमतानुयायी दर्शनशास्त्र हैं, उन सबका एक ही लक्ष्य है, और वह है—पूर्णता प्राप्त करके आत्मा को मुक्त कर लेना। इसका उपाय है योग। 'योग' शब्द बहुभावव्यापी है। सांख्य और वेदान्त उभय मत किसी-न-किसी प्रकार के योग का समर्थन करते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक का विषय है—राज-योग। पातंजल-सूत्र राजयोग का शास्त्र है और उस पर सर्वोच्च प्रामाणिक ग्रन्थ है। अन्यान्य दार्शनिकों का किसी-किसी दार्शनिक विषय में पतंजलि से मतभेद होने पर भी, वे सभी, निश्चित रूप से, उनकी साधनाप्रणाली का अनुमोदन करते हैं। लेखक ने न्यूयार्क में कुछ छात्रों को इस योग की शिक्षा देने के लिए जो वक्तृताएँ दी थीं, वे ही इस पुस्तक के प्रथम अंश में निबद्ध हैं। और इसके दूसरे अंश में पतंजलि के सूत्र, उन सूत्रों के अर्थ और उन पर संक्षिप्त टीका भी सन्निविष्ट कर दी गई है। जहाँ तक सम्भव हो सका, पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग न करने और वार्तालाप की सहज और सरल भाषा में लिखने का प्रयत्न किया गया है। इसके प्रथमांश में साधनार्थियों के लिए कुछ सरल और विशेष उपदेश दिए गए हैं, पर उन सभी लोगों को विशेष रूप से सावधान कर दिया जा रहा है कि योग के कुछ साधारण अंगों को छोड़कर, निरापद योग-शिक्षा के लिए गुरु का सदा पास रहना आवश्यक है। वार्तालाप के रूप में प्रदत्त ये सब उपदेश यदि लोगों के हृदय में इस विषय पर और भी अधिक जानने की पिपासा जगा दें, तो फिर गुरु का अभाव न रहेगा।

पातंजलदर्शन सांख्यमत पर स्थापित है। इन दोनों मतों में अन्तर बहुत ही थोड़ा है। इनके दो प्रधान मतभेद ये हैं—पहला तो, पतंजलि आदि-गुरु के रूप में एक सगुण ईश्वर की सत्ता स्वीकार करते हैं, जब कि सांख्य का ईश्वर लगभग-पूर्णताप्राप्त एक व्यक्ति मात्र है, जो कुछ समय तक एक सृष्टि-कल्प का शासन करता है। और दूसरा, योगीगण आत्मा या पुरुष के समान मन को भी सर्वव्यापी मानते हैं, पर सांख्यमतवाले नहीं।

—ग्रन्थकर्ता

(स्वामी विवेकानन्द)

स्वामी शिवानन्द
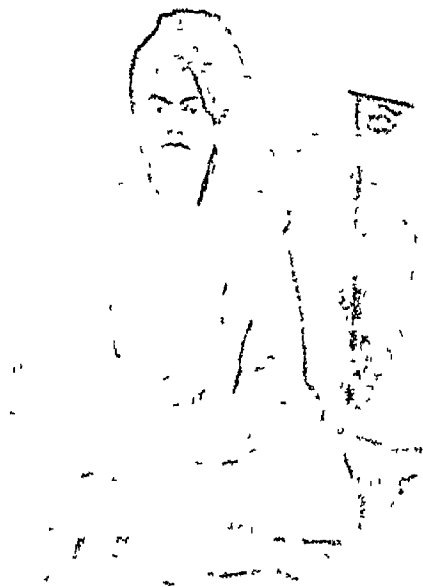
राजयोग

प्रथम अध्याय

अवतरणिका

हमारे समस्त ज्ञान स्वानुभूति पर टिके है। आनुमानिक ज्ञान (सामान्य से सामान्यतर या सामान्य से विशेष, दोनो) की बुनियाद स्वानुभूति है। जिनको निश्चित विज्ञान (exact science) * कहते है, उनकी सत्यता सहज ही लोगो की समझ मे आ जाती है, क्योकि वे प्रत्येक व्यक्ति से कहते है—'तुम स्वयं यह देख लो कि यह बात सत्य है अथवा नही, और तब उस पर विश्वास करो।' विज्ञानवित् तुमको किसी भी विषय पर विश्वास कर बैठने को न कहेगे। उन्होने स्वय कुछ विषयो का प्रत्यक्ष अनुभव किया है और उन पर विचार करके वे कुछ सिद्धान्तो पर पहुँचे है। जब वे अपने उन सिद्धान्तो पर हमसे विश्वास करने के लिए कहते है, तब वे जन-साधारण की अनुभूति पर उनके सत्यासत्य के निर्णय का भार छोड देते है। प्रत्येक निश्चित विज्ञान की एक सामान्य आधार-भूमि है और उससे जो सिद्धान्त उपलब्ध होते है, इच्छा करने पर कोई भी उनका सत्यासत्य तत्काल समझ ले सकता है। अब प्रश्न यह है, धर्म की ऐसी सामान्य आधार-भूमि कोई है भी या नही? हमे इसका उत्तर देने के लिए 'हाँ' और 'नही' दोनो कहने होगे। ससार

---

* निश्चित विज्ञान (exact science) अर्थात् वे विज्ञान, जिनके तत्त्व इतनी दूर तक सत्य निर्णीत हुए है कि गणना के बल पर उनके द्वारा भविष्य निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है, जैसे गणित, गणित-ज्योतिष इत्यादि।

मे धर्म के सम्बन्ध मे सर्वत्र ऐसी शिक्षा मिलती है कि धर्म केवल श्रद्धा और विश्वास पर स्थापित है, और अधिकाश स्थलो मे तो वह भिन्न-भिन्न मतो की समष्टि मात्र है। यही कारण है कि धर्मो के बीच केवल विवाद-झगडा दिखाई देता है। ये मत फिर विश्वास पर स्थापित है। कोई-कोई कहते है कि बादलो के ऊपर एक महान् पुरुष है, वे ही सारे ससार का शासन करते है; और वक्ता महोदय केवल अपनी बात के बल पर ही मुझसे इनमें विश्वास करने को कहते है। मेरे भी ऐसे अनेक भाव हो सकते है, जिन पर विश्वास करने के लिए मै दूसरो से कहता हूँ, और यदि वे कोई युक्ति चाहे, इस विश्वास का कारण पूछे, तो मै उन्हें युक्ति-तर्क देने मे असमर्थ हो जाता हूँ। इसीलिए आजकल धर्म और दर्शन-शास्त्रो की इतनी निन्दा सुनी जाती है। प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति का मानो यही मनोभाव है—"हटाओ, खाक-पत्थर है, धर्म क्या है, कुछ मतो के गट्ठे भर है। उनके सत्यासत्य-विचार का कोई एक मापदण्ड नही, जिसके जी मे जो आया, बस वही बक गया।" किन्तु ये लोग चाहे जो कुछ सोचे, वास्तव मे धर्म-विश्वास की एक सार्वभौमिक भित्ति है—वही विभिन्न देशो के विभिन्न सम्प्रदायो के भिन्न-भिन्न मतवादो और सब प्रकार की विभिन्न धारणाओ को नियमित करती है। उन सबके मूल मे जाने पर हम देखते है कि वे भी सार्वजनिक अभिज्ञता और अनुभूति पर प्रतिष्ठित है।

पहली बात तो यह कि यदि आप पृथ्वी के भिन्न-भिन्न धर्मो का जरा विश्लेषण करे, तो आपको ज्ञात हो जायगा कि वे दो श्रेणियो मे विभक्त है। कुछ की शास्त्र-भित्ति है, और कुछ की शास्त्र-भित्ति नही। जो शास्त्र-भित्ति पर स्थापित है वे सुदृढ़

है, उन धर्मों के माननेवालो की सख्या भी अधिक है। जिनकी शास्त्र-भित्ति नही है, वे धर्म प्राय लुप्त हो गए हैं। कुछ नए उठे अवश्य है, पर उनके अनुयायी बहुत थोड़े है। फिर भी उक्त सभी सम्प्रदायो मे यह मतैक्य दीख पडता है कि उनकी शिक्षा विशिष्ट व्यक्तियो के प्रत्यक्ष अनुभव मात्र है। ईसाई तुमसे अपने धर्म पर, ईसा पर, ईसा के अवतारत्व पर, ईश्वर और आत्मा के अस्तित्व पर और उस आत्मा की भविष्य उन्नति की सम्भवनीयता पर विश्वास करने को कहता है। यदि मैं उससे इस विश्वास का कारण पूछूँ, तो वह कहता है, "यह मेरा विश्वास है।" किन्तु यदि तुम ईसाई धर्म के मूल मे जाओ, तो देखोगे कि वह भी प्रत्यक्ष अनुभूति पर स्थापित है। ईसा ने कहा है, "मैंने ईश्वर के दर्शन किए हैं।" उनके शिष्यो ने भी कहा है, "हमने ईश्वर का अनुभव किया है।"—इत्यादि-इत्यादि।

बौद्ध धर्म के सम्बन्ध मे भी ऐसा ही है। बुद्धदेव की प्रत्यक्षानुभूति पर यह धर्म स्थापित है। उन्होने कुछ सत्यो का अनुभव किया था। उन्होने उन सबको देखा था, वे उन सत्यो के सस्पर्श मे आए थे, और उन्ही का उन्होने ससार मे प्रचार किया। हिन्दुओं के सम्बन्ध मे भी ठीक यही बात है, उनके शास्त्रो में 'ऋषि' नाम से सम्बोधित किए जानेवाले ग्रन्थकर्ता कह गए है, "हमने कुछ सत्यो के अनुभव किए हैं।" और उन्ही का वे ससार मे प्रचार कर गए हैं। अत यह स्पष्ट है कि ससार के समस्त धर्म उस प्रत्यक्ष अनुभव पर स्थापित है, जो ज्ञान की सार्वभौमिक और सुदृढ भित्ति है। सभी धर्माचार्यो ने ईश्वर को देखा था। उन सभी ने आत्मदर्शन किया था, अपने अनन्त स्वरूप का ज्ञान सभी को हुआ था, सबने अपनी भविष्य अवस्था देखी थी, और जो कुछ

उन्होने देखा था, उसी का वे प्रचार कर गए । भेद इतना ही है कि इनमे से अधिकाश धर्मो मे, विशेषत आजकल, एक अद्भुत दावा हमारे सामने उपस्थित होता है, और वह यह कि 'इस समय ये अनुभूतियाँ असम्भव है । जो धर्म के प्रथम सस्थापक है, बाद मे जिनके नाम से उस धर्म का प्रवर्तन और प्रचलन हुआ, ऐसे केवल थोडे व्यक्तियो के लिए ही ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव सम्भव हुआ था । अब ऐसे अनुभव के लिए कोई रास्ता नही रहा, फलत अब धर्म पर विश्वास भर कर लेना होगा ।' इस बात को मै पूरी शक्ति से अस्वीकृत करता हूँ । यदि ससार मे किसी प्रकार के विज्ञान के किसी विषय की किसी ने कभी प्रत्यक्ष उपलब्धि की है, तो इससे इस सार्वभौमिक सिद्धान्त पर पहुँचा जा सकता है कि पहले भी कोटि-कोटि बार उसकी उपलब्धि की सम्भावना थी और भविष्य मे भी अनन्त काल तक उनकी उपलब्धि की सम्भावना बनी रहेगी । एकरूपता ही प्रकृति का एक बडा नियम है । एक बार जो घटित हुआ है, वह पुन घटित हो सकता है ।

इसीलिए योग-विद्या के आचार्यगण कहते है कि धर्म पूर्वकालीन अनुभूतियो पर केवल स्थापित ही नही, वरन् इन अनुभूतियो से स्वय सम्पन्न हुए बिना कोई भी धार्मिक नही हो सकता । जिस विद्या के द्वारा ये अनुभूतियाँ होती है, उसका नाम है योग । धर्म के सत्यो का जब तक कोई अनुभव नही कर लेता, तब तक धर्म की बात करना ही वृथा है । भगवान के नाम पर इतनी लडाई, विरोध और झगडा क्यो ? भगवान के नाम पर जितना खून बहा है, उतना और किसी कारण से नही । ऐसा क्यो? इसीलिए कि कोई भी व्यक्ति मूल तक नही गया । सब लोग पूर्वजो के कुछ आचारो का अनुमोदन करके ही सन्तुष्ट थे । वे

चाहते थे कि दूसरे भी वैसा ही करे। जिन्हे आत्मा की अनुभूति या ईश्वर-साक्षात्कार न हुआ हो, उन्हे यह कहने का क्या अधिकार है कि आत्मा या ईश्वर है? यदि ईश्वर हो, तो उनका साक्षात्कार करना होगा, यदि आत्मा नामक कोई चीज हो, तो उसकी उपलब्धि करनी होगी। अन्यथा विश्वास न करना ही भला। ढोंगी होने से स्पष्टवादी नास्तिक होना अच्छा। एक ओर, आजकल के विद्वान् कहलानेवाले मनुष्यो के मन का भाव यह है कि धर्म, दर्शन और परमपुरुष का अनुसन्धान यह सब निष्फल है। और दूसरी ओर, जो अर्धशिक्षित है, उनका मनोभाव ऐसा जान पडता है कि धर्म, दर्शन आदि की वास्तव मे कोई बुनियाद नही, उनकी इतनी ही उपयोगिता है कि वे ससार के मगल-साधन की बलशाली प्रेरक शक्तियाँ है,—यदि लोगों का ईश्वर की सत्ता मे विश्वास रहेगा, तो वे सत्, नीति-परायण और सौजन्यशाली नागरिक होगे। जिनके ऐसे मनोभाव हैं, उनको इसके लिए दोष नही दिया जा सकता, क्योकि वे धर्म के सम्बन्ध मे जो शिक्षा पाते है, वह केवल सारशून्य, अर्थहीन अनन्त शब्दसमष्टि पर विश्वास मात्र है। उन लोगो से शब्दो पर विश्वास करके रहने के लिए कहा जाता है, क्या ऐसा कोई कभी कर सकता है? यदि मनुष्य द्वारा यह सम्भव होता, तो मानव-प्रकृति पर मेरी तिलमात्र श्रद्धा न रहती। मनुष्य चाहता है सत्य, वह सत्य का स्वय अनुभव करना चाहता है, और जब वह सत्य की धारणा कर लेता है, सत्य का साक्षात्कार कर लेता है, हृदय के अन्तरतम प्रदेश मे उसका अनुभव कर लेता है, वेद कहते है, तभी उसके सारे सन्देह दूर होते है, सारा तमोजाल छिन्न-भिन्न हो जाता है और सारी वक्रता सीधी हो जाती है—

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥" *

"शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ।" †

"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥" ‡

"हे अमृत के पुत्रो, हे दिव्यधामनिवासियो, सुनो—मैंने अज्ञानान्धकार से आलोक में जाने का रास्ता पा लिया है। जो समस्त तम के पार हे, उनको जानने पर ही वहाँ जाया जा सकता है—मुक्ति का और कोई दूसरा उपाय नहीं।"

इस सत्य को प्राप्त करने के लिए, राजयोग-विद्या मानव के समक्ष यथार्थ व्यावहारिक और साधनोपयोगी वैज्ञानिक प्रणाली रखने का प्रस्ताव करती है। पहले तो, प्रत्येक विद्या के अनुसन्धान और साधन की प्रणाली पृथक्-पृथक् है। यदि तुम ज्योतिषी होने की इच्छा करो और बैठे-बैठे केवल ज्योतिष-ज्योतिष कहकर चिल्लाते रहो, तो तुम कभी ज्योतिषशास्त्र के अधिकारी न हो सकोगे। रसायनशास्त्र के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है, उसमें भी एक निर्दिष्ट प्रणाली का अनुसरण करना होगा, प्रयोगशाला (laboratory) में जाकर विभिन्न द्रव्यादि लेने होंगे, उनको एकत्र करना होगा, उन्हें उचित अनुपात में मिलाना होगा, फिर

---

* मुण्डक उपनिषद्—२।२।८
† श्वेताश्वतर उपनिषद्—२।५
‡ श्वेताश्वतर उपनिषद्—३।८

उनको लेकर उनकी परीक्षा करनी होगी, तब कही तुम रसायन-वित् हो सकोगे। यदि तुम ज्योतिषी होना चाहते हो, तो तुम्हे वेधशाला मे जाकर दूरबीन की सहायता से ताराओ और ग्रहो का पर्यवेक्षण करके उनके विषय मे आलोचना करनी होगी, तभी तुम ज्योतिषी हो सकोगे। प्रत्येक विद्या की अपनी एक निर्दिष्ट प्रणाली है। मैं तुम्हे सैकडो उपदेश दे सकता हूँ, परन्तु तुम यदि साधना न करो, तो तुम कभी धार्मिक न हो सकोगे। सभी युगो में, सभी देशो मे, निष्काम, शुद्धस्वभाव साधु-महापुरुष इसी सत्य का प्रचार कर गए है। ससार का हित छोडकर अन्य कोई कामना उनमे नही थी। उन सभी लोगो ने कहा है कि इन्द्रियाँ हमे जहाँ तक सत्य का अनुभव करा सकती है, हमने उससे उच्चतर सत्य प्राप्त कर लिया है, और वे उसकी परीक्षा के लिए तुम्हे बुलाते है। वे कहते है, 'तुम एक निर्दिष्ट साधन-प्रणाली लेकर सरल भाव से साधना करते रहो, और यदि यह उच्चतर सत्य प्राप्त न हो, तो फिर भले ही कह सकते हो कि इस उच्चतर सत्य के सम्बन्ध की बाते केवल कपोलकल्पित है। पर हाँ, इससे पहले इन उक्तियो की सत्यता को बिलकुल अस्वीकृत कर देना किसी तरह युक्तिपूर्ण नही है।' अतएव निर्दिष्ट साधन-प्रणाली लेकर श्रद्धापूर्वक साधना करना हमारे लिए आवश्यक है, और तब प्रकाश निश्चय ही आयगा।

कोई ज्ञान प्राप्त करने के लिए हम साधारणीकरण की सहायता लेते है। इसके लिए घटनाओ का पर्यवेक्षण आवश्यक है। हम पहले घटनावली का पर्यवेक्षण करते है, फिर उनका साधारणीकरण करते है और फिर उनसे अपने सिद्धान्त या मतामत निकालते है। हम जब तक यह प्रत्यक्ष नही कर लेते कि हमारे मन के

भीतर क्या हो रहा है और क्या नही, तव तक हम अपने मन के सम्वन्ध मे, मनुष्य की आभ्यन्तरिक प्रकृति के सम्बन्ध मे, मनुष्य के विचार के सम्बन्ध में कुछ भी नही जान सकते। बाह्य जगत् के व्यापारो का पर्यवेक्षण करना अपेक्षाकृत सहज है, क्योकि उसके लिए हजारो यन्त्र निर्मित हो चुके है, पर अन्तर्जगत् के व्यापार को समझने में मदद करनेवाला कोई भी यन्त्र नही। किन्तु फिर भी हम यह निश्चयपूर्वक जानते है कि किसी विषय का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए पर्यवेक्षण आवश्यक है। उचित विश्लेषण के बिना विज्ञान निरर्थक और निष्फल होकर केवल भित्तिहीन अनुमान मे परिणत हो जाता है। इसी कारण, उन थोडे से मनस्तत्त्वान्वेषियो को छोडकर, जिन्होने पर्यवेक्षण करने के उपाय जान लिए है, शेष सब लोग चिरकाल से केवल विवाद ही करते आ रहे है।

राजयोग-विद्या पहले मनुष्य को उसकी अपनी आभ्यन्तरिक अवस्थाओ के पर्यवेक्षण का रास्ता दिखा देती है। मन ही उस पर्यवेक्षण का यन्त्र है। किसी विशिष्ट विषय को समझने की हमारी शक्ति का सही-सही नियमन कर जब उसे अन्तर्जगत् की ओर परिचालित किया जाता है, तभी वह मन के अग-प्रत्यग का विश्लेषण कर सकती है, और तब उसके प्रकाश से हम यह सही-सही समझ सकते है कि अपने मन के भीतर क्या घट रहा है। मन की शक्तियाँ इधर-उधर बिखरी हुई प्रकाश की किरणो के समान है। जब उन्हे केन्द्रीभूत किया जाता है, तब वे सब कुछ आलोकित कर देती है। यही ज्ञान का हमारा एकमात्र उपाय है। बाह्य जगत् मे हो अथवा अन्तर्जगत् मे, लोग इसी को काम मे ला रहे है। पर वैज्ञानिक जिस सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का प्रयोग बहि-

जगत् मे करता है, मनस्तत्त्वान्वेषी उसी का मन पर करते है। इसके लिए काफी अभ्यास आवश्यक है। बचपन से हमने केवल बाहरी वस्तुओ मे मनोनिवेश करना सीखा है, अन्तर्जगत् मे मनोनिवेश करने की शिक्षा नही पाई। इसी कारण हममे से अधिकाश अन्तर्यन्त्र की निरीक्षण-शक्ति खो बैठे है। मन को अन्तर्मुखी करना, उसकी बहिर्मुखी गति को रोकना, उसकी समस्त शक्तियो को केन्द्रीभूत कर उस मन के ही ऊपर उनका प्रयोग करना, ताकि वह अपना स्वभाव समझ सके, अपने आपको विश्लेषण करके देख सके—एक अत्यन्त कठिन कार्य है। पर इस विषय मे वैज्ञानिक प्रथा के अनुसार अग्रसर होने के लिए वही तो एकमात्र उपाय है।

इस तरह के ज्ञान की उपयोगिता क्या है? पहले तो, ज्ञान ही ज्ञान का सर्वोच्च पुरस्कार है, दूसरे, इसकी उपयोगिता भी है—यह समस्त दु खो का हरण करेगा। जब मनुष्य अपने मन का विश्लेषण करते-करते ऐसी एक वस्तु के साक्षात् दर्शन कर लेता है, जिसका किसी काल मे नाश नही, जो स्वरूपत: नित्यपूर्ण और नित्यशुद्ध है, तब उसको फिर दु ख नही रह जाता, उसका सारा विषाद न जाने कहाँ गायब हो जाता है। भय और अपूर्ण वासना ही समस्त दु खो का मूल है। पूर्वोक्त अवस्था के प्राप्त होने पर मनुष्य समझ जाता है कि उसकी मृत्यु किसी काल मे नही है, तब उसे फिर मृत्यु-भय नही रह जाता। अपने को पूर्ण समझ सकने पर असार वासनाएँ फिर नही रहती। पूर्वोक्त कारणद्वय का अभाव हो जाने पर फिर कोई दु ख नही रह जाता। उसकी जगह इसी देह मे परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है।

ज्ञानलाभ का एकमात्र उपाय है एकाग्रता। रसायन तत्त्वान्वेषी अपनी प्रयोगशाला मे जाकर अपने मन की समस्त शक्तियों

को केन्द्रीभूत करके, जिन वस्तुओ का वह विश्लेषण करता है, उन पर प्रयोग करता है, और इस प्रकार वह उनके रहस्य जान लेता है। ज्योतिषी अपने मन की समुदय शक्तियो को एकत्र करके दूरबीन के भीतर से आकाश मे प्रक्षिप्त करता है, और बस त्योही सूर्य, चन्द्र और ताराएँ अपना-अपना रहस्य उसके निकट खोल देती है। मै जिस विषय पर बातचीत कर रहा हूँ, उस विषय मे मै जितना मनोनिवेश कर सकूँगा, उतना ही उस विषय का गूढ तत्व तुम लोगो के निकट प्रकट कर सकूँगा। तुम लोग मेरी बात सुन रहे हो, तुम लोग जितना इस विषय मे मनोनिवेश करोगे, उतनी ही मेरी बात की स्पष्ट रूप से धारणा कर सकोगे।

मन की शक्तियो को एकाग्र करने के सिवा अन्य किस तरह ससार मे ये समस्त ज्ञान उपलब्ध हुए है ? यदि प्रकृति के द्वार पर आघात करना मालूम हो गया—उस पर कैसे धक्का देना चाहिए, यह ज्ञात हो गया, तो बस प्रकृति अपना सारा रहस्य खोल देती है। उस आघात की शक्ति और तीव्रता एकाग्रता से ही आती है। मानव-मन की शक्ति की कोई सीमा नही। वह जितना ही एकाग्र होता है, उतनी ही उसकी शक्ति एक लक्ष्य पर आती है, बस यही रहस्य है।

मन को बाहरी विषय पर स्थिर करना अपेक्षाकृत सहज है। मन स्वभावत बहिर्मुखी है। किन्तु धर्म, मनोविज्ञान अथवा दर्शन के विषय मे ऐसा नही है। यहाँ तो ज्ञाता और ज्ञेय (विषयी और विषय) एक है। यहाँ प्रमेय (विषय) एक अन्दर की वस्तु है—मन ही यहाँ प्रमेय है। मनस्तत्त्व का अन्वेषण करना ही यहाँ प्रयोजन है, और मन ही मनस्तत्त्व के अन्वेषण का कर्ता है।

हमें मालूम है कि मन की एक ऐसी शक्ति है, जिससे वह अपने अन्दर जो कुछ हो रहा है उसे देख सकता है—इसको अन्त -पर्यवेक्षण-शक्ति कह सकते हैं । मै तुमसे बातचीत कर रहा हूँ, फिर साथ ही मैं मानो एक और व्यक्ति होकर बाहर खडा हूँ और जो कुछ कह रहा हूँ, वह जान-सुन रहा हूँ । तुम एक ही समय काम और चिन्तन दोनो कर रहे हो, परन्तु तुम्हारे मन का एक और अश मानो बाहर खडे होकर तुम जो कुछ चिन्तन कर रहे हो, उसे देख रहा है। मन की समस्त शक्तियो को एकत्रित करके मन पर ही उनका प्रयोग करना होगा। जैसे सूर्य की तीक्ष्ण किरणो के सामने घने अन्धकारमय स्थान भी अपने गुप्त तथ्य खोल देते हैं, उसी तरह यह एकाग्र मन अपने सब अन्तरतम रहस्य प्रकाशित कर देगा। तब हम विश्वास की सच्ची बुनियाद पर पहुँचेगे। तभी हमको सही-सही धर्म-प्राप्ति होगी। तभी, आत्मा है या नही, जीवन केवल इस सामान्य जीवितकाल तक ही सीमित है अथवा अनन्तकालव्यापी है और ससार मे कोई ईश्वर है या नही, यह सब हम स्वय देख सकेगे। सब कुछ हमारे ज्ञानचक्षुओ के सामने उद्भासित हो उठेगा। राजयोग हमे यही शिक्षा देने के लिए अग्रसर होता है। इसमे जितने उपदेश हैं, उन सबका उद्देश्य, प्रथमत , मन की एकाग्रता का साधन है, इसके बाद है—उसके गम्भीरतम प्रदेश में कितने प्रकार के भिन्न-भिन्न कार्य हो रहे हैं, उनका ज्ञान प्राप्त करना, और तत्पश्चात् उनसे साधारण सत्यो को निकालकर उनसे अपने एक सिद्धान्त पर उपनीत होना। इसी लिए राजयोग की शिक्षा किसी धर्मविशेष पर आधारित नही है। तुम्हारा धर्म चाहे जो हो—तुम चाहे आस्तिक हो या नास्तिक, यहूदी या बौद्ध या ईसाई—इससे कुछ बनता-बिगडना

नही, तुम मनुष्य हो, बस यही पर्याप्त है। प्रत्येक मनुष्य मे धर्मतत्त्व का अनुसन्धान करने की शक्ति है, उसे उसका अधिकार है। प्रत्येक व्यक्ति का, किसी भी विषय मे क्यो न हो, कारण पूछने का अधिकार है, और उसमे ऐसी शक्ति भी है कि वह अपने भीतर से ही उन प्रश्नो के उत्तर पा सके। पर हाँ, उसे इसके लिए कुछ कष्ट उठाना पड़ेगा।

अब तक हमने देखा, इस राजयोग की साधना मे किसी प्रकार के विश्वास की आवश्यकता नही। जब तक कोई बात स्वय प्रत्यक्ष न कर सको, तब तक उस पर विश्वास न करो—राजयोग यही शिक्षा देता है। सत्य को प्रतिष्ठित करने के लिए अन्य किसी सहायता की आवश्यकता नही। क्या तुम कहना चाहते हो कि जाग्रत् अवस्था की सत्यता के प्रमाण के लिए स्वप्न अथवा कल्पना की सहायता की जरूरत है? नही, कभी नही। इस राजयोग की साधना मे दीर्घ काल और निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता है। इस अभ्यास का कुछ अश शरीर-सयम विषयक है, परन्तु इसका अधिकाश मन सयमात्मक है। हम क्रमश समझेंगे, मन और शरीर में किस प्रकार का सम्बन्ध है। यदि हम विश्वास करे कि मन शरीर की केवल एक सूक्ष्म अवस्थाविशेष है और मन शरीर पर कार्य करता है, तो हमे यह भी स्वीकार करना होगा कि शरीर भी मन पर कार्य करता है। शरीर के अस्वस्थ होने पर मन भी अस्वस्थ हो जाता है, शरीर स्वस्थ रहने पर मन भी स्वस्थ और तेजस्वी रहता है। जब किसी व्यक्ति को क्रोध आता है, तब उसका मन अस्थिर हो जाता है। मन की अस्थिरता के कारण शरीर भी पूरी तरह अस्थिर हो जाता है। अधिकाश लोगो का मन शरीर के सम्पूर्ण अधीन रहता है। असल

मे उनके मन की शक्ति बहुत थोड़े परिमाण मे विकसित हुई रहती है। यदि तुम लोग कुछ बुरा न मानो, तो कहूँ, अधिकाश मनुष्य पशु से बहुत थोड़े ही उन्नत है, क्योकि अधिकाश स्थलो मे तो उनकी संयम की शक्ति पशु-पक्षियो से कोई विशेष अधिक नही। हममे मन के निग्रह की शक्ति बहुत थोडी है। मन पर यह अधिकार पाने के लिए, शरीर और मन पर आधिपत्य लाने के लिए कुछ बहिरंग साधनाओ की—दैहिक साधनाओ की आवश्यकता है। शरीर जब पूरी तरह अधिकार मे आ जायगा, तब मन को हिलाने-डुलाने का समय आयगा। इस तरह मन जब बहुत-कुछ वश मे आ जायगा, तब हम इच्छानुसार उससे काम ले सकेंगे, उसकी वृत्तियो को एकमुखी होने के लिए मजबूर कर सकेंगे।

राजयोगी के मतानुसार यह सम्पूर्ण बहिर्जगत् अन्तर्जगत् या सूक्ष्म जगत् का स्थूल विकास मात्र है। सभी स्थलो मे सूक्ष्म को कारण और स्थूल को कार्य समझना होगा। इस नियम से, बहिर्जगत् कार्य है और अन्तर्जगत् कारण। इसी हिसाब से, स्थूल जगत् की परिदृश्यमान शक्तियाँ आभ्यन्तरिक सूक्ष्मतर शक्तियों का स्थूल भाग मात्र है। जिन्होने इन आभ्यन्तरिक शक्तियो का आविष्कार करके उन्हे इच्छानुसार चलाना सीख लिया है, वे सम्पूर्ण प्रकृति को वश मे कर सकते है। सम्पूर्ण जगत को वशीभूत करना और सारी प्रकृति पर अधिकार हासिल करना—इस बृहत् कार्य को योगी अपना कर्तव्य समझते है। वे एक ऐसी अवस्था मे जाना चाहते हैं, जहाँ, हम जिन्हे 'प्रकृति के नियम' कहते हैं, वे उन पर कोई प्रभाव नही डाल सकते, जिस अवस्था में वे उन सब को पार कर जाते है। तब वे आभ्यन्तरिक और बाह्य समस्त

प्रकृति पर प्रभुत्व प्राप्त कर लेते हैं। मनुष्य-जाति की उन्नति और सभ्यता इस प्रकृति को वशीभूत करने की शक्ति पर निर्भर है।

इस प्रकृति को वशीभूत करने के लिए भिन्न-भिन्न जातियाँ भिन्न-भिन्न प्रणालियों का सहारा लेती हैं। जैसे एक ही समाज के भीतर कुछ व्यक्ति बाह्य प्रकृति को और कुछ अन्तःप्रकृति को वशीभूत करने की चेष्टा करते हैं, वैसे ही भिन्न-भिन्न जातियों में कोई-कोई जातियाँ बाह्य प्रकृति को, तो कोई-कोई अन्तःप्रकृति को वशीभूत करने का प्रयत्न करती हैं। किसी के मत से, अन्तःप्रकृति को वशीभूत करने पर सब कुछ वशीभूत हो जाता है, फिर दूसरों के मत से, बाह्य प्रकृति को वशीभूत करने पर सब कुछ वश में आ जाता है। इन दो सिद्धान्तों के चरम भावों को देखने पर यह प्रतीत होता है कि दोनों ही सिद्धान्त सही हैं, क्योंकि यथार्थतः प्रकृति में बाह्य और अभ्यन्तर जैसा कोई भेद नहीं। यह केवल एक काल्पनिक विभाग है। ऐसे विभाग का कोई अस्तित्व ही नहीं, और यह कभी था भी नहीं। बहिर्वादी और अन्तर्वादी जब अपने-अपने ज्ञान की चरम सीमा प्राप्त कर लेंगे, तब दोनों अवश्य एक ही स्थान पर पहुँच जायँगे। जैसे बहिर्विज्ञानवादी जब अपने ज्ञान को चरम सीमा पर ले जायँगे, तो अन्त में उन्हें दार्शनिक होना होगा, उसी प्रकार दार्शनिक भी देखेंगे कि वे मन और भूत के नाम से जो दो भेद कर रहे थे, वह वास्तव में कल्पना मात्र है, वह एक दिन बिलकुल विलीन हो जायगी।

जिससे यह बहु उत्पन्न हुआ है जो एक पदार्थ बहु रूपों में प्रकाशित हुआ है, उसका निर्णय करना ही समस्त विज्ञान का मुख्य उद्देश्य और लक्ष्य है। राजयोगी कहते हैं, हम पहले

अन्तर्जगत् का ज्ञान प्राप्त करेंगे, फिर उसी के द्वारा बाह्य और अन्तर उभय प्रकृति को वशीभूत कर लेंगे। प्राचीन काल से ही लोग इसके लिए प्रयत्नशील रहे है। भारतवर्ष मे इसकी विशेष चेष्टा होती रही है, परन्तु दूसरी जातियो ने भी इस ओर कुछ प्रयत्न किए है। पाश्चात्य देशो में लोग इसको रहस्य या गुप्त-विद्या सोचते थे, जो लोग इसका अभ्यास करने जाते थे, उन पर अघोरी, डाइन, ऐन्द्रजालिक आदि अपवाद लगाकर उन्हे जला दिया अथवा मार डाला जाता था। भारतवर्ष मे अनेक कारणो से यह विद्या ऐसे व्यक्तियो के हाथ पडी, जिन्होने इसका ९० प्रतिशत अश नष्ट कर डाला और शेष को गुप्त रीति से रखने की चेष्टा की। आजकल पश्चिमी देशो मे, भारतवर्ष के गुरुओं की अपेक्षा निकृष्टतर अनेक गुरु-नामधारी व्यक्ति दिखाई पडते है। भारतवर्ष के गुरु फिर भी कुछ जानते थे, पर ये आधुनिक गुरु तो कुछ भी नही जानते।

इन सारी योग-प्रणालियो मे जो कुछ गुह्य या रहस्यात्मक है, सब छोड देना पडेगा। जिससे बल मिलता है, उसी का अनुसरण करना चाहिए। अन्यान्य विषयो मे जैसा है, धर्म में भी ठीक वैसा ही है—जो तुमको दुर्बल बनाता है, वह समूल त्याज्य है। रहस्य-स्पृहा मानव-मस्तिष्क को दुर्बल कर देती है। इसके कारण ही आज योगशास्त्र नष्ट-सा हो गया है। किन्तु वास्तव मे यह एक महाविज्ञान है। चार हजार वर्ष से भी पहले यह आविष्कृत हुआ था। तब से भारतवर्ष मे यह प्रणालीबद्ध होकर वर्णित और प्रचारित होता रहा है। यह एक आश्चर्यजनक बात है कि व्याख्याकार जितना आधुनिक है, उसका भ्रम भी उतना ही अधिक है, और लेखक जितना प्राचीन है,

उसने उतनी ही अधिक युक्तियुक्त बात कही है। आधुनिक लेखको मे ऐसे अनेक है, जो नाना प्रकार की रहस्यात्मक और अद्भुत-अद्भुत बाते कहा करते है। इस प्रकार, जिनके हाथ यह शास्त्र पडा, उन्होने समस्त शक्तियाँ अपने अधिकार मे कर रखने की इच्छा से इसको महा गोपनीय और आश्चर्यजनक बना डाला और युक्तिरूप प्रभाकर का पूर्ण आलोक इस पर न पडने दिया।

मै पहले ही कह देना चाहता हूँ कि मै जो कुछ प्रचार कर रहा हूँ, उसमे गुह्य नाम की कोई चीज नही है। मै जो कुछ थोडासा जानता हूँ, वही तुमसे कहूँगा। जहाँ तक यह युक्ति से समझाया जा सकता है, वहाँ तक समझाने की कोशिश करूँगा। परन्तु मै जो नही समझ सकता, उसके बारे मे कह दूँगा, "शास्त्र का यह कथन है।" अन्धविश्वास करना अन्याय है। अपनी विचार-शक्ति और युक्ति काम मे लानी होगी। यह प्रत्यक्ष करके देखना होगा कि शास्त्र मे जो कुछ लिखा है, वह सत्य है या नही। जडविज्ञान तुम जिस ढग से सीखते हो, ठीक उसी प्रणाली से यह धर्मविज्ञान भी सीखना होगा। इसमे गुप्त रखने की कोई बात नही, किसी विपत्ति की भी आशका नही। इसमे जहाँ तक सत्य है, उसका सबके समक्ष राजपथ पर प्रकट रूप से प्रचार करना आवश्यक है। यह सब किसी प्रकार छिपा रखने की चेष्टा करने से अनेक प्रकार की विपत्तियाँ उत्पन्न होती है।

कुछ और अधिक कहने के पहले मै साख्य-दर्शन के सम्बन्ध में कुछ कहूँगा। इस साख्य-दर्शन पर राजयोग-विद्या स्थापित है। साख्य-दर्शन के मत से किसी विषय के ज्ञान की प्रणाली इस प्रकार है—प्रथमत विषय के साथ चक्षु आदि बाह्य करणो का सयोग

होता है। ये चक्षु आदि बाहरी करण फिर उसे मस्तिष्क-स्थित अपने-अपने केन्द्र अर्थात् इन्द्रियो के पास भेजते हैं, इन्द्रियाँ मन के निकट, और मन उसे निश्चयात्मिका बुद्धि के पास ले जाता है, तब पुरुष या आत्मा उसका ग्रहण करती है। फिर जिस सोपान-क्रम मे से होता हुआ वह विषय अन्दर आया था, उसी में से होते हुए लौट जाने की पुरुष मानो उसे आज्ञा देता है। इस प्रकार विषय गृहीत होता है। पुरुष को छोडकर शेष सब जड है। पर आँख आदि बाहरी करणो की अपेक्षा मन सूक्ष्मतर भूत से निर्मित है। मन जिस उपादान से निर्मित है, उसके क्रमश. स्थूलतर होने पर तन्मात्राओ की उत्पत्ति होती है। उनके और भी स्थूल हो जाने पर परिदृश्यमान भूतो की उत्पत्ति होती है। यही साख्य का मनोविज्ञान है। अतएव बुद्धि और स्थूल भूत मे अन्तर केवल मात्रा के तारतम्य मे है। एकमात्र पुरुष ही चेतन है। मन तो मानो आत्मा के हाथो एक यन्त्र है। उसके द्वारा आत्मा बाहरी विषयो को ग्रहण करती है। मन सतत परिवर्तनशील है, इधर से उधर दौडता रहता है, कभी सभी इन्द्रियो से लगा रहता है, तो कभी एक से, और कभी किसी भी इन्द्रिय से सलग्न नही रहता। मान लो, मै मन लगाकर एक घडी की टिक-टिक सुन रहा हूँ। ऐसी दशा मे आँखे खुली रहने पर भी मै कुछ देख न पाऊँगा। इससे स्पष्ट समझ में आ जाता है कि मन जब श्रवणेन्द्रिय से लगा था, तो दर्शनेन्द्रिय से उसका सयोग न था। पर पूर्णता-प्राप्त मन सभी इन्द्रियो से एक साथ लगाया जा सकता है। उसकी अन्तर्दृष्टि की शक्ति है, जिसके बल से मनुष्य अपने अन्तर के सबसे गहरे प्रदेश तक मे नजर डाल सकता है। इस अन्तर्दृष्टि का विकास-साधन ही योगी का उद्देश्य है। मन की समस्त शक्तियो

को एकत्र करके भीतर की ओर मोडकर वे जानना चाहते हैं कि भीतर क्या हो रहा है। इसमे केवल विश्वास की कोई बात नही, यह तो दार्शनिको के मनस्तत्त्व-विश्लेषण का फल मात्र है। आधुनिक शरीरतत्त्ववित् पण्डितो का कथन है कि आँखे यथार्थत: दर्शन का करण नही है, वह करण तो मस्तिष्क के अन्तर्गत स्नायु-केन्द्र में अवस्थित है। समस्त करणो के सम्बन्ध मे ठीक ऐसा ही समझना चाहिए। उनका यह भी कहना है कि मस्तिष्क जिस पदार्थ से निर्मित है, ये केन्द्र भी ठीक उसी पदार्थ से बने है। साख्य-मतानुयायी भी ऐसा ही कहते हैं। भेद यह है कि साख्य का सिद्धान्त आध्यात्मिकता की ओर झुका हुआ है और वैज्ञानिको का भौतिकता की ओर। फिर भी दोनो एक ही बात है। हमें इससे अतीत राज्य का अन्वेषण करना होगा।

योगी प्रयत्न करते है कि वे अपने को ऐसा सूक्ष्म अनुभूति-सम्पन्न कर ले, जिससे वे विभिन्न मानसिक अवस्थाओ को प्रत्यक्ष कर सके। समस्त मानसिक प्रक्रियाओ को पृथक्-पृथक् रूप से मानस-प्रत्यक्ष करना आवश्यक है। इन्द्रिय-गोलको पर विषयो का आघात होते ही उससे उत्पन्न हुई सवेदनाएँ उस-उस करण की सहायता से किस तरह स्नायु में से होती हुई जाती है, मन किस प्रकार उनको ग्रहण करता है, किस प्रकार फिर वे निश्चयात्मिका वुद्धि के पास जाती है, तत्पश्चात् किस प्रकार पुरुप के पास उपनीत होती है—इन समस्त व्यापारो को पृथक्-पृथक् रूप से देखना होगा। प्रत्येक विपय की शिक्षा की अपनी एक निर्दिष्ट प्रणाली है। कोई भी विज्ञान क्यो न सीखो, पहले अपने आपको उसके लिए तैयार करना होगा, फिर एक निर्दिष्ट प्रणाली का अनुसरण करना होगा। इसके अतिरिक्त उस विज्ञान के सिद्धान्तों

को समझने का और कोई दूसरा उपाय नही है। राजयोग के सम्बन्ध मे भी ठीक ऐसा ही है।

भोजन के सम्बन्ध मे कुछ नियम आवश्यक है। जिससे मन खूब पवित्र रहे, ऐसा भोजन करना चाहिए। तुम यदि किसी चिड़ियाघर मे जाओ, तो भोजन के साथ जीव का क्या सम्बन्ध है यह भलीभाँति समझ में आ जायगा। हाथी बडा भारी प्राणी है, परन्तु उसकी प्रकृति बड़ी शान्त है। और यदि तुम सिह या वाघ के पिजड़े की ओर जाओ, तो देखोगे, वे बडे चचल है। इससे समझ मे आ जाता है कि आहार का तारतम्य कितना भयानक परिवर्तन कर देता है। हमारे शरीर के अन्दर जितनी शक्तियाँ खेल कर रही हैं, वे सारी आहार से पैदा हुई है। और यह हम प्रतिदिन प्रत्यक्ष देखते हैं। यदि तुम उपवास करना आरम्भ कर दो, तो तुम्हारा शरीर दुर्बल हो जायगा, दैहिक शक्तियो का ह्रास हो जायगा और कुछ दिनो बाद मानसिक शक्तियाँ भी क्षीण होने लगेगी। पहले स्मृति-शक्ति जाती रहेगी, फिर ऐसा एक समय आयगा, जब सोचने के लिए भी सामर्थ्य न रह जायगी—किसी विषय पर गम्भीर रूप से विचार करना तो दूर की बात रहे। इसीलिए साधना की पहली अवस्था में, भोजन के सम्बन्ध मे विशेष ध्यान रखना होगा, फिर बाद में साधना मे विशेष अग्रसर हो जाने पर उतना सावधान न रहने से भी चलेगा। जब तक पौधा छोटा रहता है, तब तक उसे घेर कर रखते है, नही तो जानवर उसे चर जायँ। उसके बड़े हो जाने पर घेरा आवश्यक नही रह जाता। तब वह सारे आघात झेल सकता है।

योगी को अधिक विलास और कठोरता दोनो का ही

त्याग करना चाहिए। उनके लिए उपवास करना या देह को किसी प्रकार कष्ट देना उचित नही। गीताकार कहते हैं, जो अपने को अनर्थक क्लेश देते हैं, वे कभी योगी नही हो सकते। अतिभोजनकारी, उपवासशील, अधिक जागरणशील, अधिक निद्रालु, अत्यन्त कर्मी अथवा बिलकुल आलसी—इनमे से कोई भी योगी नही हो सकता।

"नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नत ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥"*

---

* गीता, ६।१६-१७

द्वितीय अध्याय

साधना के प्राथमिक सोपान

राजयोग आठ अगों मे विभक्त है। पहला है यम—अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी का अभाव), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। दूसरा है नियम—अर्थात् शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय (अध्यात्म-शास्त्रपाठ) और ईश्वर-प्रणिधान अर्थात् ईश्वर को आत्म-समर्पण। तीसरा है आसन—अर्थात् बैठने की प्रणाली। चौथा है प्राणायाम। पाँचवाँ है प्रत्याहार—अर्थात् मन की विषयाभिमुखी गति को फेरकर उसे अन्तर्मुखी करना। छठा है धारणा अर्थात् एकाग्रता। सातवाँ है ध्यान। और आठवाँ है समाधि अर्थात् ज्ञानातीत अवस्था। हम देख रहे है, यम और नियम चरित्र-निर्माण के साधन हैं। इनको नीव बनाए बिना किसी तरह की योग-साधना सिद्ध न होगी। यम और नियम के दृढप्रतिष्ठ हो जाने पर योगी अपनी साधना का फल अनुभव करना आरम्भ कर देते हैं। इनके न रहने पर साधना का कोई फल न होगा। योगी को चाहिए कि वे तन-मन-वचन से किसी के विरुद्ध हिंसाचरण न करे। मनुष्य ही नही, वरन् अन्य प्राणियो के विरुद्ध भी हिंसा का भाव न रहे, दया मनुष्य-जाति में ही आबद्ध न रहे, वरन् वह और भी फैलकर मानो सारे ससार का आलिगन कर ले।

यम और नियम के बाद आसन आता है। जब तक बहुत उच्च अवस्था की प्राप्ति नही हो जाती, तब तक रोज नियमानुसार कुछ शारीरिक और मानसिक क्रियाएँ करनी पडती हैं। अतएव जिससे दीर्घकाल तक एक भाव से बैठा जा सके, ऐसे

एक आसन का अभ्यास आवश्यक है। जिनको जिस आसन से सुभीता मालूम होता हो, उनको उसी आसन पर बैठना चाहिए। एक व्यक्ति के लिए एक प्रकार से बैठकर सोचना सहज हो सकता है, परन्तु दूसरे के लिए, सम्भव है, वह बहुत कठिन जान पड़े। हम बाद मे देखेंगे कि योग-साधना के समय शरीर के भीतर नाना प्रकार के कार्य होते रहते है। स्नायविक शक्तिप्रवाह की गति को फेरकर उसे नए रास्ते से दौडाना होगा, तब शरीर मे नए प्रकार के कम्पन या क्रिया शुरु होगी, सारा शरीर मानो नए रूप से गठित हो जायगा। इस क्रिया का अधिकाश मेरुदण्ड के भीतर होगा, इसलिए आसन के सम्बन्ध मे इतना समझ लेना होगा कि मेरुदण्ड को सहज भाव से रखना आवश्यक है—ठीक सीधा बैठना होगा—वक्ष, ग्रीवा और मस्तक सीधे और समुन्नत रहे, जिससे देह का सारा भार पसलियो पर पडे। यह तुम सहज ही समझ सकोगे कि वक्ष यदि नीचे की ओर झुका रहे, तो किसी प्रकार का उच्च चिन्तन करना सम्भव नहीं। राजयोग का यह भाग हठयोग से बहुत-कुछ मिलता जुलता है। हठयोग केवल स्थूल देह को लेकर व्यस्त रहता है। इसका उद्देश्य केवल स्थूल देह को सबल बनाना है। हठयोग के सम्बन्ध मे यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता नही, क्योंकि उसकी क्रियाएँ बहुत कठिन है। एक दिन में उसकी शिक्षा भी सम्भव नही। फिर, उससे कोई आध्यात्मिक उन्नति भी नही होती। डेलसर्ट और अन्यान्य व्यायाम-आचार्यो के ग्रन्थो मे इन क्रियाओ के अनेक अग देखने को मिलते है। उन लोगो ने भी शरीर को भिन्न-भिन्न स्थितियो में रखने की व्यवस्था की है। हठयोग की तरह उनका भी उद्देश्य दैहिक उन्नति है, आध्यात्मिक उन्नति नही। शरीर की ऐसी कोई पेशी नही, जिसे

हठयोगी अपने वश मे न ला सके। हृदय-यंत्र उसकी इच्छा के अनुसार बंद किया या चलाया जा सकता है —शरीर के सारे अंश वह अपनी इच्छानुसार चला सकता है।

मनुष्य किस प्रकार दीर्घजीवी हो, यही हठयोग का एकमात्र उद्देश्य है। शरीर किस प्रकार पूर्ण स्वस्थ रहे, यही हठयोगियो का एकमात्र लक्ष्य है। हठयोगियो का यही दृढ सकल्प है कि मुझे और पीडा न हो। और इस दृढ संकल्प के वल से उनको पीडा होती भी नही। वे दीर्घजीवी हो सकते है, सौ वर्ष तक जीवित रहना तो उनके लिए मामूली-सी बात है। उनकी १५० वर्ष की आयु हो जाने पर भी, देखोगे, वे पूर्ण युवा और सतेज है, उनका एक केश भी सफेद नही हुआ किन्तु इसका फल बस यही तक है। वटवृक्ष भी कभी-कभी ५००० वर्ष जीवित रहता है, किन्तु वह वटवृक्ष का वटवृक्ष ही बना रहता है। फिर वे लोग भी यदि उसी तरह दीर्घजीवी हुए, तो उससे क्या ? वे बस एक बडे स्वस्थकाय जीव भर रहते है। हठ-योगियो के दो-एक साधारण उपदेश बडे उपकारी है। सिर की पीडा होने पर, शय्या-त्याग करते ही नाक से शीतल जल पीए, इससे सारा दिन मस्तिष्क अत्यन्त शीतल रहेगा और कभी सर्दी न होगी। नाक से पानी पीना कोई कठिन काम नही, बडा सरल है। नाक को पानी के भीतर डुबाकर गले मे पानी खीचते रहो। पानी अपने-आप ही धीरे-धीरे भीतर जाने लगेगा।

आसन सिद्ध होने पर, किसी-किसी सम्प्रदाय के मतानुसार नाडी-शुद्धि करनी पड़ती है। बहुत से लोग यह सोचकर कि यह राजयोग के अन्तर्गत नहीं है, इसकी आवश्यकता स्वीकार नही करते। परन्तु जब शंकराचार्य जैसे भाष्यकार ने इसका विधान

किया है तब मेरे लिए भी इसका उल्लेख करना उचित जान पडता है। मैं श्वेताश्वतर उपनिषद् पर उनके भाष्य* से इस सम्बन्ध मे उनका मत उद्धृत करूँगा—"प्राणायाम के द्वारा जिस मन का मैल धुल गया है, वही मन ब्रह्म में स्थिर होता है। इसलिए शास्त्रो मे प्राणायाम के विषय का उल्लेख है। पहले नाडी-शुद्धि करनी पडती है तभी प्राणायाम करने की शक्ति आती है। अँगूठे से दाहिना नथुना दबाकर बाएँ नथुने से यथाशक्ति वायु अन्दर खीचो, फिर बीच मे तनिक देर भी विश्राम किए बिना बाईं नासिका बन्द करके दाहिनी नासिका से वायु निकालो। फिर दाहिनी नासिका से वायु ग्रहण करके बाईं नासिका से निकालो। दिन भर मे चार बार अर्थात् उषा, मध्याह्न, सायाह्न और निशीथ, इन चार समय पूर्वोक्त क्रिया का तीन बार या पाँच बार अभ्यास करने पर, एक पक्ष या महीने भर मे नाडी-शुद्धि हो जाती है। उसके बाद प्राणायाम पर अधिकार होगा।"

सदा अभ्यास आवश्यक है। तुम रोज देर तक बैठे हुए मेरी बात सुन सकते हो, परन्तु अभ्यास किए बिना तुम एक कदम भी आगे नही बढ सकते। सब कुछ साधना पर निर्भर है। प्रत्यक्ष अनुभूति बिना इन तत्त्वों का कुछ भी समझ मे नही आता। स्वय अनुभव करना होगा, केवल व्याख्या और मत

---

* प्राणायामक्षपितमनोमलस्य चित्त ब्रह्मणि स्थित भवतीति प्राणायामो निर्दिश्यते। प्रथम नाडीशोधन कर्तव्यम्। तत प्राणायामे अधिकार। दक्षिण-नासिकापुटमगुल्यावष्टभ्य वामेन वायु पूरयेत् यथाशक्ति। ततोऽनन्तर-मुत्सृज्यैव दक्षिणेन पुटेन समुत्सृजेत्। सव्यमपि धारयेत्। पुनर्दक्षिणेन पूरयित्वा सव्येन समुत्सृजेत् यथाशक्ति। त्रि पचकृत्वो वा एव अभ्यस्यत: सवनचतुष्टयमपररात्रे मध्याह्ने पूर्वरात्रेऽर्धरात्रे च पक्षान्मासात् विशुद्धिर्भवति। श्वेताश्वतर उपनिषद्, शाकरभाष्य—द्वितीय अध्याय, अष्टम श्लोक।

सुनने से न होगा। फिर साधना मे बहुत से विघ्न भी हैं। पहला तो व्याधिग्रस्त देह है। शरीर स्वस्थ न रहे, तो साधना मे बाधा पडती है। अत शरीर को स्वस्थ रखना आवश्यक है। किस प्रकार का खान-पान करना होगा, किस प्रकार जीवन यापन करना होगा, इन सब बातो की ओर हमे विशेष ध्यान देना होगा। मन से सोचना होगा कि शरीर सबल हो—जैसा कि यहाँ के क्रिश्चियन साइन्स* मतावलम्बी करते है। बस, शरीर के लिये फिर और कुछ करने की जरूरत नही। यह हम कभी न भूले कि स्वास्थ्य उद्देश्य के साधन का एक उपाय मात्र है। यदि स्वास्थ्य ही उद्देश्य होता, तो हम तो पशुतुल्य हो गए होते। पशु प्राय अस्वस्थ नही होते।

दूसरा विघ्न है सन्देह। हम जो कुछ नही देख पाते, उसके सम्बन्ध मे सन्दिग्ध हो जाते हैं। मनुष्य कितनी भी चेष्टा क्यो न करे, वह केवल बात के भरोसे नही रह सकता। यही कारण है कि योगशास्त्रोक्त सत्यता के सम्बन्ध मे सन्देह उपस्थित हो जाता है। यह सन्देह बहुत अच्छे आदमियो में भी देखने को मिलता है। परन्तु साधना का श्रीगणेश कर देने पर बहुत थोडे दिनो में ही कुछ-कुछ अलौकिक व्यापार देखने को

---

*क्रिश्चियन साइन्स (Christian Science)—यह सम्प्रदाय मिसेज् एड्डि नामक एक अमेरिकन महिला द्वारा प्रतिष्ठित हुआ है। इनके मतानुसार सचमुच जड नामक कोई पदार्थ नही, वह हमारे मन का केवल भ्रम है। विश्वास करना होगा—'हमें कोई रोग नहीं,' तो हम उसी समय रोगमुक्त हो जायेंगे। इसका 'क्रिश्चियन साइन्स' नाम पडने का कारण यह है कि इसके मतावलम्बी कहते हैं, "हम ईसा का ठीक-ठीक पदानुसरण कर रहे हैं। ईसा ने जो अद्भुत क्रियाएँ की थी, हम भी वैसा करने में समर्थ है, और सब प्रकार से दोपशून्य जीवन यापन करना हमारा उद्देश्य है।"

मिलेंगे, और तब साधना के लिए तुम्हारा उत्साह बढ़ जायगा। योगशास्त्र के एक टीकाकार ने कहा भी है, "योगशास्त्र की सत्यता के सम्बन्ध में यदि एक बिलकुल सामान्य प्रमाण भी मिल जाय, तो उतने से ही सम्पूर्ण योगशास्त्र पर विश्वास हो जायगा।" उदाहरणस्वरूप तुम देखोगे कि कुछ महीनों की साधना के बाद तुम दूसरों का मनोभाव समझ सक रहे हो, वे तुम्हारे पास तस्वीर के रूप में आयँगे, यदि बहुत दूर पर कोई शब्द या बात-चीत हो रही हो, तो मन एकाग्र करके सुनने की चेष्टा करने से ही तुम उसे सुन लोगे। पहले पहल अवश्य ये व्यापार बहुत थोडा-थोडा करके दिखेंगे। परन्तु उसी से तुम्हारा विश्वास, बल और आशा बढती रहेगी। मान लो, नासिका के अग्रभाग में तुम चित्त का सयम करने लगे, तब तो थोडे ही दिनों में तुम्हें दिव्य सुगन्ध मिलने लगेगी, इसी से तुम समझ जाओगे कि हमारा मन कभी-कभी वस्तु के प्रत्यक्ष सस्पर्श में न आकर भी उसका अनुभव कर लेता है। पर यह हमें सदा याद रखना चाहिए कि इन सिद्धियों का और कोई स्वतन्त्र मूल्य नही, वे हमारे प्रकृत उद्देश्य के साधन में कुछ सहायता मात्र करती हैं। हमे याद रखना होगा कि इन सब साधनों का एकमात्र लक्ष्य, एकमात्र उद्देश्य 'आत्मा की मुक्ति' है। प्रकृति को पूर्ण रूप से अपने अधीन कर लेना ही हमारा एकमात्र लक्ष्य है। इसके सिवा और कुछ भी हमारा प्रकृत लक्ष्य नही हो सकता। मामूली सिद्धियों से सन्तुष्ट हो गए, तो पूरा न पडेगा। हम ही प्रकृति पर प्रभुत्व करेंगे, प्रकृति को अपने ऊपर प्रभुत्व न करने देंगे। शरीर या मन कुछ भी हम पर प्रभुत्व न कर सके। हम यह कभी न भूलें कि 'शरीर हमारा है'—'हम शरीर के नही'।

एक देवता और एक असुर किसी महापुरुष के पास आत्म-जिज्ञासु होकर गए। उन्होने उन महापुरुष के पास एक अरसे तक रहकर शिक्षा प्राप्त की। कुछ दिन बाद उन महापुरुष ने उनसे कहा, "तुम लोग जिसको खोज रहे हो, वह तो तुम ही हो।" उन लोगो ने सोचा, "तो देह ही आत्मा है।" फिर उन लोगों ने यह सोचकर कि जो कुछ मिलना था मिल गया, सन्तुष्ट-चित्त से अपनी-अपनी जगह को प्रस्थान किया। उन लोगो ने जाकर अपने-अपने आत्मीय जनो से कहा, "जो कुछ सीखना था, सब सीख आए। अब आओ, भोजन, पान और आनन्द मे दिन बिताएँ—हम ही वह आत्मा है, इसके सिवा और कोई पदार्थ नही।" उस असुर का स्वभाव अज्ञान से ढका हुआ था, इसलिए इस विषय मे उसने अधिक अन्वेषण नही किया। अपने को ईश्वर समझकर वह पूर्ण रूप से सन्तुष्ट हो गया, उसने 'आत्मा' शब्द से देह समझी। परन्तु देवता का स्वभाव अपेक्षाकृत पवित्र था। वे भी पहले इस भ्रम मे पडे थे कि "'मैं' का अर्थ यह शरीर ही है, यह देह ही ब्रह्म है, इसलिए इसे स्वस्थ और सबल रखना, सुन्दर स्वच्छ वस्त्रादि पहनना और सब प्रकार के दैहिक सुखो का सम्भोग करना ही कर्तव्य है।" परन्तु कुछ दिन जाने पर उन्हे यह बोध होने लगा कि गुरु के उपदेश का अर्थ यह नही हो सकता कि देह ही आत्मा है, वरन् देह से भी श्रेष्ठ कुछ अवश्य है। तब उन्होने गुरु के निकट आकर पूछा, "गुरो, आपके वाक्य का क्या यह तात्पर्य है कि देह ही आत्मा है? परन्तु यह कैसे हो सकता है? सभी शरीर तो नष्ट होते है, पर आत्मा का तो नाश नही।" आचार्य ने कहा, "तुम स्वय इसका निर्णय करो, तुम वही हो—तत्त्वमसि।" तब शिष्य ने सोचा, शरीर के

भीतर जो प्राण है, शायद उनको लक्ष्य कर गुरु ने पूर्वोक्त उपदेश दिया था। वे वापस चले गए। परन्तु फिर शीघ्र ही देखा कि भोजन करने पर प्राण तेजस्वी रहते है और न करने पर मुरझाने लगते हैं। तव वे पुन गुरु के पास आए और कहा, "गुरो, आपने क्या प्राणों को आत्मा कहा है ?" गुरु ने कहा, "स्वय तुम इसका निर्णय करो, तुम वही हो।" उस अध्यवसायशील शिष्य ने गुरु के यहाँ से लौटकर सोचा, "तो शायद मन ही आत्मा होगा।" परन्तु वे शीघ्र ही समझ गए कि मनोवृत्तियाँ बहुत तरह की हैं, मन में कभी साधु-वृत्ति, तो कभी असत्-वृत्ति उठती है, अत मन इतना परिवर्तनशील है कि वह कभी आत्मा नही हो सकता। तब फिर से गुरु के पास आकर उन्होंने कहा, "मन आत्मा है, ऐसा तो मुझे नही जान पडता। आपने क्या ऐसा ही उपदेश दिया है ?" गुरु ने कहा, "नही, तुम ही वह हो, तुम स्वय इसका निर्णय करो।" वे देवपुगव फिर लौट गए, तब उनको यह ज्ञान हुआ, "मैं समस्त मनोवृत्तियो के अतीत एकमेवाद्वितीय आत्मा हूँ। मेरा जन्म नही, मृत्यु नही, मुझे तलवार नही काट सकती, आग नही जला सकती, हवा नही सुखा सकती, जल नही गला सकता, मैं अनादि हूँ, जन्मरहित, अचल, अस्पर्श, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान पुरुष हूँ। आत्मा शरीर या मन नही, वह तो इन सबके अतीत है।" इस प्रकार देवता मे ज्ञान का उदय हुआ और वे तत्प्रसूत आनन्द से तृप्त हो गए। पर उस असुर विचारे को सत्यलाभ न हुआ, क्योकि देह मे उसकी अत्यन्त आसक्ति थी।

इस जगत् मे ऐसी असुर-प्रकृति के अनेक लोग है, फिर भी देवता-प्रकृतिवाले विलकुल ही न हो, ऐसा नही। यदि कोई कहे, "आओ, तुम लोगो को मैं एक ऐसी विद्या सिखाऊँगा, जिससे

तुम्हारा इन्द्रिय-सुख अनन्तगुना बढ जायगा," तो अगणित लोग उसके पास दौड पडेगे। परन्तु यदि कोई कहे, "आओ, मैं तुम लोगो को तुम्हारे जीवन का चरम लक्ष्य परमात्मा का विषय सिखलाऊँ," तो शायद उनकी बात की कोई परवाह भी न करेगा। ऊँचे तत्त्व की धारणा करने की शक्ति बहुत कम लोगो मे देखने को मिलती है, सत्य को प्राप्त करने के लिए अध्यवसाय-शील लोगो की सख्या तो और भी बिरली है। पर ससार में ऐसे महापुरुष भी है, जिनकी यह निश्चित धारणा है कि शरीर चाहे हजार वर्ष रहे या लाख वर्ष, अन्त मे गति एक ही होगी। जिन शक्तियो के बल से देह कायम है, उनके चले जाने पर देह न रहेगी। कोई भी व्यक्ति पल भर के लिए भी शरीर का परिवर्तन रोकने मे समर्थ नही हो सकता। शरीर और है क्या? वह कुछ सतत-परिवर्तनशील परमाणुओ की समष्टि मात्र है। नदी के दृष्टान्त से यह तत्त्व सहज बोधगम्य हो सकता है। तुम अपने सामने नदी मे जलराशि देख रहे हो, वह देखो, पल भर मे वह चली गई और उसकी जगह एक नयी जलराशि आ गई। जो जलराशि आई, वह सम्पूर्ण नयी है, परन्तु देखने में पहली ही जलराशि की तरह है। शरीर भी ठीक इसी तरह सतत परिवर्तन-शील है। उसके इस प्रकार परिवर्तनशील होने पर भी उसे स्वस्थ और बलिष्ठ रखना आवश्यक है, क्योकि शरीर की सहायता से ही हमे ज्ञान की प्राप्ति करनी होगी। इसके सिवा और कोई उपाय नही।

सब प्रकार के शरीरो मे मानव-देह ही श्रेष्ठतम है, मनुष्य ही श्रेष्ठतम जीव है। मनुष्य सब प्रकार के निकृष्ट प्राणियो से—यहाँ तक कि देवादि से भी श्रेष्ठ है। मनुष्य से

श्रेष्ठतर जीव और नही। देवताओ को भी ज्ञान-लाभ के लिए मनुष्य-देह धारण करनी पडती है। एकमात्र मनुष्य ही ज्ञान-लाभ का अधिकारी है, देवता भी इसमे वञ्चित है। यहूदी और मुसलमानो के मत मे, ईश्वर ने, देवता और अन्यान्य समुदय सृष्टियो के बाद मनुष्य की सृष्टि करके, देवताओ से मनुष्य को प्रणाम और अभिनन्दन कर आने के लिए कहा। इब्लिस को छोडकर बाकी सबने ऐसा किया। अतएव ईश्वर ने इब्लिस को अभिशाप दे दिया। इससे वह शैतान बन गया। उक्त रूपक के अन्दर यह महान् सत्य निहित है कि ससार मे मनुष्य-जन्म ही अन्य सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। पशु आदि तिर्यक्-सृष्टि तम प्रधान है। पशु किसी ऊँचे तत्त्व की धारणा नहीं कर सकते। देवता भी मनुष्य-जन्म लिए विना मुक्तिलाभ नही कर सकते। देखो, मनुष्य की आत्मोन्नति के लिए अधिक धन अनुकूल नही। फिर विलकुल निर्धन होने पर भी उन्नति दूर रहती है। ससार मे जितने महात्मा पैदा हुए है, सभी मध्यम श्रेणी के लोगो से हुए थे। मध्यम श्रेणीवालो में सब विरोधी शक्तियो का समन्वय रहता है।

अब हम यथार्थ विषय पर आएँ। हमें अब प्राणायाम के सम्बन्ध मे आलोचना करनी चाहिए। देखें, चित्तवृत्तियो के निरोध से प्राणायाम का क्या सम्बन्ध है। श्वास-प्रश्वास मानो देह-यन्त्र का गतिनियामक मूल यन्त्र (fly-wheel) है। एक वृहत् इजन पर निगाह डालने पर देखोगे कि एक वडा चक्र घूम रहा है और उस चक्र की गति क्रमश सूक्ष्म से सूक्ष्मतर यन्त्रो में सचारित होती है। इस प्रकार उस इजन के अत्यन्त सूक्ष्मतम यन्त्र तक गतिशील हो जाते हैं। श्वास-प्रश्वास ठीक वैसा ही एक गतिनियामक चक्र है। वही इस शरीर के सब अगो मे जहाँ

जिस प्रकार की शक्ति की आवश्यकता है, उसकी पूर्ति कर रहा है और उस शक्ति को नियमित कर रहा है।

एक राजा के एक मन्त्री था। किसी कारण से राजा उस पर नाराज हो गया। राजा ने उसे एक बड़ी ऊँची मीनार की चोटी में कैद कर रखने की आज्ञा दी। राजा की आज्ञा का पालन किया गया। मन्त्री भी वहाँ कैद होकर मौत की राह देखने लगा। मन्त्री के एक पतिव्रता पत्नी थी। रात को उस मीनार के नीचे आकर उसने चोटी पर कैद हुए पति को पुकारकर पूछा, "मै किस प्रकार तुम्हारी रक्षा करूँ?" मन्त्री ने कहा, "अगली रात को एक लम्बा मोटा रस्सा, मजबूत डोरी, एक बडल सूत, रेशम का पतला सूत, एक गुबरैला और थोड़ा सा शहद लेती आना।" उसकी सहधर्मिणी पति की यह बात सुनकर बहुत आश्चर्यचकित हो गई। जो हो, वह पति की आज्ञानुसार दूसरे दिन सब वस्तुएँ ले गई। मन्त्री ने उससे कहा, "रेशम का सूत मजबूती से गुबरैले के पैर मे बाँध दो, उसकी मूँछो में एक बूँद शहद लगा दो और उसका सिर ऊपर की ओर करके उसे मीनार की दीवार पर छोड़ दो।" पतिव्रता ने सब आज्ञाओ का पालन किया। तब उस कीडे ने अपना लम्बा रास्ता पार करना शुरू किया। सामने शहद की महक पाकर मधु के लोभ से वह धीरे-धीरे ऊपर चढने लगा, और अन्त मे मीनार की चोटी पर जा पहुँचा। मन्त्री ने झट उसे पकड लिया और उसके साथ रेशम के सूत को भी। इसके बाद अपनी स्त्री से कहा, "बडल मे जो सूत है, उसे रेशम के सूत के छोर से बाँध दो।" इस तरह वह भी उसके हाथ मे आ गया। इसी उपाय से उसने डोरा और मोटा रस्सा भी पकड लिया। अब कोई कठिन काम न रह

गया। रस्सा ऊपर बाँधकर वह नीचे उतरा और भाग खडा हुआ। हमारी इस देह में श्वास-प्रश्वास की गति मानो रेशमी सूत है। इसका धारण या सयम कर सकने पर पहले स्नायविक शक्तिप्रवाहरूप (nervous currents) सूत का बडल, फिर मनोवृत्तिरूप डोरी और अन्त मे प्राणरूप रस्से को पकड सकते हैं। प्राणो को जीत लेने पर मुक्ति प्राप्त होती है।

हम अपने शरीर के सम्बन्ध मे बडे अज्ञ है, कुछ जानकारी रखना भी हमे सम्भव नही मालूम पडता। बहुत हुआ तो हम मृत-देह को चीर-फाडकर देख सकते है कि उसके भीतर क्या है और क्या नही, और कोई-कोई इसके लिए किसी जीवित पशु की देह ले सकते हैं। पर उससे हमारे अपने शरीर का कोई सम्बन्ध नही। हम अपने शरीर के सम्बन्ध मे बहुत कम जानते हैं। इसका कारण क्या है? यह कि हम मन को उतनी दूर तक एकाग्र नही कर सकते, जिससे हम शरीर के भीतर की अति सूक्ष्म गतियो तक को समझ सके। मन जब बाह्य विषयो का परित्याग कर देह के भीतर प्रविष्ट होता है और अत्यन्त सूक्ष्मावस्था प्राप्त करता है, तभी हम उन गतियो को जान सकते है। इस प्रकार सूक्ष्म अनुभूतिसम्पन्न होने के लिए हमे पहले स्थूल से आरम्भ करना होगा। देखना होगा, सारे शरीर-यन्त्र को चलाता कौन है, और उसे अपने वश मे लाना होगा। वह प्राण है, इसमे कोई सन्देह नही। श्वास-प्रश्वास ही उस प्राण-शक्ति का प्रत्यक्ष परिदृश्यमान रूप है। अब, श्वास-प्रश्वास के साथ धीरे-धीरे शरीर के भीतर प्रवेश करना होगा। इसी से हम देह के भीतर की सूक्ष्म से सूक्ष्म शक्तियो के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर सकेगे और समझ सकेगे कि स्नायविक शक्तिप्रवाह किस तरह

शरीर में सर्वत्र भ्रमण कर रहे हैं। और जब हम मन में उनका अनुभव कर सकेंगे, तब वे, और उनके साथ देह भी हमारे अधिकार मे आ जायगी। मन भी इन सब स्नायविक शक्ति-प्रवाहों द्वारा सचालित हो रहा है। इसीलिए उन पर विजय पाने से मन और शरीर दोनो ही हमारे अधीन हो जाते है, हमारे दास बन जाते है। ज्ञान ही शक्ति है, और यह शक्ति प्राप्त करना ही हमारा उद्देश्य है। अतएव स्नायुओ के भीतर जो शक्तिप्रवाह सतत चल रहे है, उनके और शरीर के सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त कर लेना विशेष आवश्यक है। इसलिए हमे प्राणायाम से प्रारम्भ करना होगा। इस प्राणायाम-तत्त्व की विशेष आलोचना के लिए दीर्घ समय की आवश्यकता है—इसको अच्छी तरह समझाते बहुत दिन लगेंगे। हम क्रमश उसका एक-एक अश लेकर आलोचना करेंगे।

हम क्रमश समझ सकेंगे कि प्राणायाम के साधन मे जो क्रियाएँ की जाती हैं, उनका हेतु क्या है और प्रत्येक क्रिया से देह के भीतर किस प्रकार की शक्ति प्रवाहित होती है। क्रमश यह सब हमे बोधगम्य हो जायगा। परन्तु इसके लिए निरन्तर साधना आवश्यक है। साधना के द्वारा ही मेरी बात की सत्यता का प्रमाण मिलेगा। मै इस विषय मे कितनी भी युक्तियो का प्रयोग क्यो न करूँ, पर तुम्हे उस समय तक कोई भी उपादेय न जान पड़ेगी, जब तक तुम स्वय प्रत्यक्ष न कर लोगे। जब देह के भीतर इन शक्तियो के प्रवाह की गति स्पष्ट अनुभव करने लगोगे, तभी सारे सशय दूर होगे। परन्तु इसके अनुभव के लिए प्रत्यह कठोर अभ्यास आवश्यक है। प्रतिदिन कम-से-कम दो बार अभ्यास करना चाहिए, और उस अभ्यास का उपयुक्त समय है प्रात और साय। जब रात बीतती है और पौ फटती है तथा जब

दिन बीतता है और रात आती है, इन दो समयो मे प्रकृति अपेक्षाकृत शान्त भाव धारण करती है। ब्राह्ममुहूर्त और गोधूलि ये दो समय मन की स्थिरता के लिए अनुकूल है। इन दो समय शरीर बहुत-कुछ शान्तभावापन्न रहता है। इस समय साधना करने से प्रकृति हमारी काफी सहायता करेगी, इसलिए इन्ही दो समयो में साधना करना आवश्यक है। यह नियम बना लो कि साधना समाप्त किए बिना भोजन न करोगे। ऐसा नियम बना लेने पर भूख का प्रबल वेग ही तुम्हारा आलस्य नष्ट कर देगा। भारतवर्ष मे बालक यही शिक्षा पाते है कि स्नान-पूजा और साधना किए बिना भोजन नही करना चाहिए। कालान्तर मे यह उनके लिए स्वाभाविक हो जाता है, उनकी जब तक स्नान-पूजा और साधना समाप्त नही हो जाती, तब तक उन्हे भूख नही लगती।

तुममे से जिनको सुभीता हो, वे साधना के लिए यदि एक स्वतत्र कमरा रख सके, तो अच्छा हो। इस कमरे को सोने के काम में न लाओ। इसे पवित्र रखो। बिना स्नान किए और शरीर-मन को बिना शुद्ध किए इस कमरे मे प्रवेश न करो। इस कमरे मे सदा पुष्प और हृदय को आनन्द देनेवाले चित्र रखो। योगी के लिए ऐसे वातावरण मे रहना बहुत उत्तम है। सुबह और शाम वहाँ धूप और चन्दन-चूर्ण आदि जलाओ। उस कमरे में किसी प्रकार का क्रोध, कलह और अपवित्र चिन्तन न किया जाय। तुम्हारे साथ जिनके भाव मिलते है, केवल उन्ही को उस कमरे मे प्रवेश करने दो। ऐसा करने पर शीघ्र वह कमरा सत्त्वगुण से पूर्ण हो जायगा, यहाँ तक कि, जब किसी प्रकार का दु ख या सशय आए अथवा मन चचल हो, तो उस समय उस कमरे मे प्रवेश करते ही तुम्हारा मन शान्त हो जायगा। मन्दिर, गिरजाघर

आदि के निर्माण का सच्चा उद्देश्य यही था। अब भी बहुत से मन्दिरो और गिरजाघरो मे यह भाव देखने को मिलता है; परन्तु अधिकतर स्थलो मे लोग इनका उद्देश्य तक भूल गए हैं। चारो ओर पवित्र चिन्तन के परमाणु सदा स्पन्दित होते रहने के कारण वह स्थान पवित्र ज्योति से भरा रहता है। जो इस प्रकार के स्वतत्र कमरे की व्यवस्था नही कर सकते, वे जहाँ इच्छा हो वही बैठकर साधना कर सकते है। शरीर को सीधा रखकर बैठो। ससार मे पवित्र चिन्तन का एक स्रोत बहा दो। मन-ही-मन कहो—ससार मे सभी सुखी हो, सभी शान्ति लाभ करे, सभी आनन्द पावे। इस प्रकार पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, चहुँ ओर पवित्र चिन्तन की धारा बहा दो। ऐसा जितना करोगे, उतना ही तुम अपने को अच्छा अनुभव करने लगोगे। बाद मे देखोगे, 'दूसरे सब लोग स्वस्थ हो,' यह चिन्तन ही स्वास्थ्य-लाभ का सहज उपाय है। 'दूसरे लोग सुखी हो,' ऐसी भावना ही अपने को सुखी करने का सहज उपाय है। इसके बाद जो लोग ईश्वर पर विश्वास करते है, वे ईश्वर के निकट प्रार्थना करे—अर्थ, स्वास्थ्य अथवा स्वर्ग के लिए नही, वरन् हृदय मे ज्ञान और सत्य-तत्त्व के उन्मेष के लिए। इसके छोड बाकी सब प्रार्थनाएँ स्वार्थ से भरी है। इसके बाद भावना करनी होगी 'मेरा शरीर वज्रवत् दृढ, सबल और स्वस्थ है। यह देह ही मेरी मुक्ति मे एकमात्र सहायक है। इसी की सहायता से मै यह जीवन-समुद्र पार कर लूँगा।' जो दुर्बल है वह कभी मुक्ति नही पा सकता। समस्त दुर्बलताओं का त्याग करो। देह से कहो, 'तुम खूब बलिष्ठ हो।' मन से कहो, 'तुम अनन्त शक्तिधर हो।' और स्वयं पर प्रबल विश्वास और भरोसा रखो।

तृतीय अध्याय

प्राण

बहुतों का विचार है, प्राणायाम श्वास-प्रश्वास की कोई क्रिया है। पर असल में ऐसा नहीं है। वास्तव में तो श्वास-प्रश्वास की क्रिया के साथ इसका बहुत थोड़ा सम्बन्ध है। यथार्थ प्राणायाम की साधना में अधिकारी होने के लिए बहुत से अलग-अलग उपाय हैं। श्वास-प्रश्वास की क्रिया उनमें से एक उपाय मात्र है। प्राणायाम का अर्थ है प्राणों का संयम। भारतीय दार्शनिकों के मतानुसार सारा जगत् दो पदार्थों से निर्मित है। उनमें से एक का नाम है आकाश। यह आकाश एक सर्वव्यापी, सर्वानुस्यूत सत्ता है। जिस किसी वस्तु का आकार है, जो कोई वस्तु कुछ वस्तुओं के मिश्रण से बनी है, वह इस आकाश से ही उत्पन्न हुई है। यह आकाश ही वायु में परिणत होता है, यही तरल पदार्थों का रूप धारण करता है, यही फिर ठोस आकार को प्राप्त होता है। यह आकाश ही सूर्य, पृथ्वी, तारा, धूमकेतु

वाष्पीय पदार्थ पुन आकाश मे लय हो जाते है। वाद की सृष्टि फिर से इसी तरह आकाश से उत्पन्न होती है।

किस शक्ति के प्रभाव से आकाश का जगत् के रूप में परिणाम होता है? इस प्राण की शक्ति से। जिस तरह आकाश इस जगत का कारणस्वरूप, अनन्त, सर्वव्यापी मूल पदार्थ है, प्राण भी उसी तरह जगत् की उत्पत्ति की कारणस्वरूपा, अनन्त सर्वव्यापी विक्षेपकरी शक्ति है। कल्प के आदि मे और अन्त में सम्पूर्ण सृष्टि आकाशरूप मे परिणत होती है, और जगत् की सारी शक्तियाँ प्राण में लीन हो जाती है, दूसरे कल्प मे फिर इसी प्राण से समुदय शक्तियों का विकास होता है। यह प्राण ही गति-रूप मे प्रकाशित हुआ है—यही गुरुत्वाकर्षण या चुम्बक-शक्ति के रूप मे प्रकाशित हो रहा है। यह प्राण ही स्नायविक शक्तिप्रवाह (nerve current) के रूप मे, विचार-शक्ति के रूप में और समुदय दैहिक क्रिया के रूप मे प्रकाशित हुआ है। विचार-शक्ति से लेकर अति सामान्य दैहिक शक्ति तक सव कुछ प्राण का ही विकास है। वाह्य और अन्तर्जगत् की समस्त शक्तियाँ जब अपनी मूल अवस्था मे पहुँचती है, तब उसी को प्राण कहते हैं। "जब अस्ति और नास्ति कुछ भी न था, जव तम से तम आवृत था, तब था क्या? * यह आकाश ही गतिशून्य होकर अवस्थित था।" यह ठीक है कि प्राण का किसी प्रकार का प्रकाश न था, परन्तु तव भी प्राण का अस्तित्व था। हम आधुनिक विज्ञान द्वारा भी समझ सकते हैं कि ससार में जितने

---

* नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्—इत्यादि।
तम आसीत् तमसागूढमग्रेऽप्रकेतम्—इत्यादि।
—ऋग्वेद सहिता, दसम मण्डल।

प्रकार की शक्तियो का विकास हुआ है, उनकी समष्टि चिरकाल समान रहती है, वे शक्तियाँ कल्प के अन्त मे शान्तभाव धारण करती है—अव्यक्त अवस्था मे गमन करती है, और दूसरे कल्प के आदि मे वे ही फिर से व्यक्त होकर आकाश पर कार्य करती रहती है। इसी आकाश से परिदृश्यमान साकार वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, और आकाश के परिणाम-प्राप्त होने पर यह प्राण भी नाना प्रकार की शक्तियो मे परिणत होता रहता है। इस प्राण के यथार्थ तत्त्व को जानना और उसको सयत करने की चेष्टा करना ही प्राणायाम का प्रकृत अर्थ है।

इस प्राणायाम मे सिद्ध होने पर हमारे लिए मानो अनन्त शक्ति का द्वार खुल जाता है। मान लो, किसी व्यक्ति की समझ मे यह प्राण का विषय पूरी तरह आ गया और वह उस पर विजय प्राप्त करने मे भी कृतकार्य हो गया, तो फिर ससार में ऐसी कौनसी शक्ति है, जो उसके अधिकार मे न आए? उसकी आज्ञा से चन्द्र-सूर्य अपनी जगह से हिलने लगते है, क्षुद्रतम परमाणु से वृहत्तम सूर्य तक सभी उसके वशीभूत हो जाते है, क्योकि उसने प्राण को जीत लिया है। प्रकृति को वशीभूत करने की शक्ति प्राप्त करना ही प्राणायाम की साधना का लक्ष्य है। जब योगी सिद्ध हो जाते है, तब प्रकृति मे ऐसी कोई वस्तु नही, जो उनके वश मे न आ जाय। यदि वे देवताओ का आह्वान करेंगे, तो वे उनकी आज्ञामात्र से आ उपस्थित होगे, यदि मृत व्यक्तियो को आने की आज्ञा देंगे, तो वे तुरन्त हाजिर हो जायेंगे। प्रकृति की समुदय शक्ति उनकी आज्ञा से दासी की तरह काम करने लगेगी। अज्ञ जन योगी के इन कार्यकलापो को अलौकिक समझते है। हिन्दुओ का यह एक विशेषत्व है कि वे

जिस किसी तत्त्व की आलोचना करते हैं, पहले उसके भीतर, यथासम्भव, एक साधारण भाव का अनुसन्धान करते हैं, और उसके भीतर जो कुछ विशेष है, उसको बाद में मीमासा के लिए रख देते है। वेद मे यह प्रश्न बार-बार पूछा गया है, "कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिद विज्ञात भवति ? "†—ऐसी कौनसी वस्तु है, जिसका ज्ञान होने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है ? इस प्रकार, हमारे जितने शास्त्र है, जितने दर्शन हैं, सब-के-सब उसी के निर्णय मे लगे हुए है, जिसके जानने से सब कुछ जाना जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति जगत् का तत्त्व थोडा-थोडा करके जानना चाहे, तो उसे अनन्त समय लग जायगा, क्योकि फिर तो उसे बालू के एक-एक कण तक को भी अलग-अलग रूप से जानना होगा। अत यह स्पष्ट है कि इस प्रकार सब कुछ जानना एक प्रकार से असम्भव है। तब फिर इस प्रकार के ज्ञानलाभ की सम्भावना कहाँ है ? एक-एक विषय को अलग-अलग रूप से जानकर मनुष्य के लिए सर्वज्ञ होने की सम्भावना कहाँ है ? योगी कहते है, इन सब विशिष्ट अभिव्यक्तियो के पीछे एक साधारण सत्ता है। उसको पकड सकने या जान लेने पर सब कुछ जाना जा सकता है। इसी प्रकार, वेदो मे सम्पूर्ण जगत् को उस एक अखण्ड निरपेक्ष सत्स्वरूप में पर्यवसित किया है। जिन्होने इस 'अस्ति'-स्वरूप को पकडा है वे ही सम्पूर्ण विश्व को समझ सके हैं। उक्त प्रणाली से ही समस्त शक्तियो को भी इस प्राणरूप साधारण शक्ति मे पर्यवसित किया है। अतएव जिन्होने प्राण को पकडा है, उन्होने ससार मे जितनी आधिभौतिक या आध्यात्मिक शक्तियाँ है, सबको पकड़ लिया है। जिन्होने प्राण

† मुण्डक उपनिषद्—१।३

को जीता है, उन्होंने अपने मन को ही नही, वरन् सबके मन को भी जीत लिया है। उन्होंने अपनी देह और दूसरी जितनी देह है, सबको अपने अधीन कर लिया है, क्योकि प्राण ही सारी शक्तियो का मूल है।

किस प्रकार इस प्राण पर विजय पाई जाय, यही प्राणायाम का एकमात्र उद्देश्य है। इस प्राणायाम के सम्बन्ध में जितनी साधनाएँ और उपदेश हैं, सबका यही एक उद्देश्य है। हर एक साधनार्थी को, उसके सबसे समीप जो कुछ है, उसी से साधना शुरू करनी चाहिए—उसके निकट जो कुछ है, उस सब पर विजय पाने की चेष्टा करनी चाहिए। ससार की सारी वस्तुओ मे देह हमारे सबसे निकट है, मन उससे भी निकटतर है। जो प्राण ससार मे सर्वत्र क्रीडा कर रहा है, उसका जो अश इस शरीर और मन को चलाता है, वही अश हमारे सबसे निकट है। यह जो क्षुद्र प्राण-तरग है—जो हमारी शारीरिक और मानसिक शक्तियो के रूप से परिचित है, वह अनन्त प्राण-समुद्र में हमारे सबसे पास की तरग है। यदि हम उस क्षुद्र तरग पर विजय पा ले, तभी हम समस्त प्राण-समुद्र को जीतने की आशा कर सकते है। जो योगी इस विषय मे कृतकार्य होते हैं, वे सिद्धि पा लेते हैं, तब कोई भी शक्ति उन पर प्रभुत्व नही जमा सकती। वे एक प्रकार से सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ हो जाते हैं। हम सभी देशो मे ऐसे सम्प्रदाय देखते है, जो किसी-न-किसी उपाय से इस प्राण पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा कर रहे है। इसी देश मे (अमेरिका में) हम मन शक्ति से आरोग्य करनेवाले (Mind-healers), विश्वास से आरोग्य करनेवाले (Faith-healers), प्रेततत्त्ववित् (Spiritualists), ईसाई

विज्ञानवित् (Christian Scientists)*, वशीकरणविद्यावित् (Hypnotists), आदि अनेक सम्प्रदाय देखते है। यदि हम इन मतो का विशेष रूप से विश्लेषण करे, तो देखेगे कि इन सब मतो के मूल मे—वे फिर जाने या न जाने—प्राणायाम ही है। उन सब मतो के मूल मे एक ही बात है। वे सब एक ही शक्ति को लेकर कार्य कर रहे हैं, पर हाँ, वे उसके सम्बन्ध मे कुछ जानते नही। उन लोगो ने एकाएक मानो एक शक्ति का आविष्कार कर डाला है, परन्तु उस शक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में बिलकुल अनभिज्ञ हैं। योगी जिस शक्ति का परिचालन करते है, ये भी बिना जाने-बूझे उसी का परिचालन कर रहे है। वह प्राण की ही शक्ति है।

यह प्राण ही समस्त प्राणियो के भीतर जीवनी-शक्ति के रूप मे विद्यमान है। मनोवृत्ति इसकी सूक्ष्मतम और उच्चतम अभिव्यक्ति है। जिसे हम साधारणत मनोवृत्ति की आख्या देते है, मनोवृत्ति कहने से केवल उसका बोध नही होता। मनोवृत्ति के अनेक प्रकार हैं। जिसे हम सहज ज्ञान (instinct) अथवा ज्ञानरहित चित्त-वृत्ति अथवा मन की अचेतन भूमि कहते हैं, वह हमारा निम्नतम कार्यक्षेत्र है। मान लो, मुझे एक मच्छड़ ने काटा, तो मेरा हाथ अपने ही आप उसे मारने को उठ जाता है। उसे मारने के लिए हाथ को उठाते-गिराते मुझे कोई विशेष सोच-विचार नही करना पड़ता। यह एक प्रकार की मनोवृत्ति है। शरीर की समस्त ज्ञानरहित प्रतिक्रियाएँ

---

* टिप्पणी के लिए पृष्ठ २५ देखिए।

(reflex actions*) इसी श्रेणी की मनोवृत्ति के अन्तर्गत है।"
इससे ऊँची एक दूसरी श्रेणी की मनोवृत्ति है, उसे सज्ञान मनोवृत्ति अथवा मन की चेतन भूमि कहते है। हम युक्ति-तर्क करते है, विचार करते है, सब विषयो के दोनो पहलू सोचते है। परन्तु इतने से ही समस्त मनोवृत्तियो की समाप्ति नही हो जाती। हमे मालूम है, युक्ति या विचार बिलकुल छोटीसी सीमा के अन्दर विचरण करता है। वह हम लोगो को कुछ ही दूर तक ले जा सकता है, इसके आगे उसका और अधिकार नही। जितनी जगह के अन्दर वह चक्कर काटता है, वह बहुत छोटी, बहुत संकीर्ण है। परन्तु हम यह भी देख रहे है कि बहुत से विषय, जो उसके अधिकार के बाहर है, उसके भीतर आ रहे है। पुच्छल तारा जिस प्रकार सौर-जगत् के अधिकार के भीतर न होने पर भी कभी-कभी उसके भीतर आ जाता है और हमे दीख पडता है, उसी प्रकार बहुत से तत्त्व, हमारी युक्ति के अधिकार के बाहर होने पर भी, उसके भीतर आ जाते है। यह अवश्य है कि वे सब तत्त्व इस सीमा के बाहर से आते है, पर विचार-शक्ति इस सीमा को पार नही कर सकती। इस छोटीसी सीमा के भीतर उनके इस अनधिकार प्रवेश का कारण यदि हम खोजना चाहे, तो हमें अवश्य इस सीमा के बाहर जाना होगा। हमारे विचार, हमारी युक्तियाँ वहाँ नही पहुँच सकती। योगियो का कहना है कि यह सज्ञान या चेतन भूमि ही हमारे ज्ञान की चरम सीमा नही है। मन तो पूर्वोक्त दोनो भूमियो से भी उच्चतर भूमि पर विचरण

---

* बाहर की किसी प्रकार की उत्तेजना से शरीर का कोई यन्त्र, समय-समय पर, ज्ञान की सहायता लिए बिना अपने आप जब काम करता है तो उस कार्य को reflex action कहते है।

कर सकता है। उस भूमि को हम ज्ञानातीत या पूर्णचेतन भूमि कहते है—वही समाधि नामक पूर्ण एकाग्र अवस्था है। जब मन उस अवस्था मे उपनीत होता है, तव वह युक्ति-राज्य के परे चला जाता है तथा सहज ज्ञान और युक्ति के अतीत विषयो को प्रत्यक्ष करता है। शरीर की सारी सूक्ष्म से सूक्ष्म शक्तियाँ, जो प्राण की ही विभिन्न अवस्था मात्र है, यदि सही रास्ते से परिचालित हो, तो वे मन पर विशेष रूप से कार्य करती है, और तब मन भी पहले से ऊँची अवस्था मे अर्थात् ज्ञानातीत या पूर्णचेतन भूमि मे चला जाता है और वहाँ से कार्य करता रहता है।

वहिर्जगत् हो अथवा अन्तर्जगत्, जिधर भी दृष्टि दौडाई जाय, उधर ही एक अखण्ड वस्तुराशि दीख पडती है। भौतिक ससार की ओर दृष्टिपात करने पर दिखता है कि एक अखण्ड वस्तु ही मानो नाना रूपो में विराजमान है। वास्तव मे, तुममें और सूर्य मे कोई भेद नही। वैज्ञानिक के पास जाओ, वे तुम्हे समझा देगे कि वस्तु-वस्तु मे भेद केवल काल्पनिक है। इस टेवुल से वास्तव में मेरा कोई भेद नही। यह टेवुल अनन्त जडराशि की मानो एक बूँद है और मैं उसी की एक दूसरी बूँद। प्रत्येक साकार वस्तु इस अनन्त जड़-सागर में मानो एक भँवर है। भँवर सारे समय एकरूप नही रहते। मान लो, किसी नदी मे लाखो भँवर हैं, प्रत्येक भँवर मे प्रति क्षण नई जलराशि आती है, कुछ देर घूमती है और फिर दूसरी ओर चली जाती है। उसके स्थान में एक नई जलराशि आ जाती है। यह जगत् भी इसी प्रकार सतत परिवर्तनशील एक जडराशि मात्र है और ये सारे रूप उसके भीतर मानो छोटे-छोटे भँवर हैं। कोई भूत-समष्टि किसी मनुष्य-देहरूपी भँवर मे घुसती है, और वहाँ कुछ

काल तक चक्कर काटने के बाद वह बदल जाती है और एक दूसरी भँवर में—किसी पशु-देहरूपी भँवर मे—प्रवेश करती है। फिर वहाँ कुछ वर्ष तक घूमती रहने के बाद, हो तो इस बार खनिज पदार्थ नामक भँवर में चली जाती है। बस, सतत परिवर्तन होता रहता है। कोई भी वस्तु स्थिर नही। मेरा शरीर, तुम्हारा शरीर नामक वास्तव मे कोई वस्तु नही। वैसा कहना केवल मुख की बात है। है केवल एक अखण्ड जडराशि। उसी के किसी बिन्दु का नाम है चन्द्र, किसी का सूर्य, किसी का मनुष्य, किसी का पृथ्वी, कोई बिन्दु उद्भिद् है, तो कोई खनिज पदार्थ। इनमे से कोई भी सदा एक भाव से नही रहता, सभी वस्तुओ का सतत परिवर्तन हो रहा है, जड का एक बार सश्लेषण होता है, फिर विश्लेषण। अन्तर्जगत् के सम्बन्ध में भी ठीक यही बात है। ससार की समस्त वस्तुएँ 'ईथर' (आकाश-तत्त्व) से उत्पन्न हुई है, अतएव इसको हम सारी जड वस्तुओ के प्रतिनिधि के रूप मे ग्रहण कर सकते है। प्राण की सूक्ष्मतर स्पन्दनशील अवस्था में इस ईथर को मन का भी प्रतिनिधिस्वरूप कहा जा सकता है। अतएव सम्पूर्ण मनोजगत् भी एक अखण्डस्वरूप है। जो अपने मन में यह अति सूक्ष्म कम्पन उत्पन्न कर सकते है, वे देखते हैं कि सारा जगत् सूक्ष्मातिसूक्ष्म कम्पनो की समष्टि मात्र है। किसी-किसी औषध में हमको इस सूक्ष्म अवस्था मे पहुँचा देने की शक्ति रहती है, यद्यपि उस समय हम इन्द्रिय-राज्य के भीतर ही रहते हैं। तुममे से बहुतो को सर हम्फ्री डेवी के प्रसिद्ध प्रयोग की बात याद होगी। हास्योत्पादक वाष्प (Laughing Gas) ने जब उनको अभिभूत कर लिया, तब वे स्तब्ध और नि स्पन्द होकर खडे रहे। कुछ देर बाद जब होश आया, तो बोले, 'सारा

जगत् भावराशि की समष्टि मात्र है।' कुछ समय के लिए सारे स्थूल कम्पन (gross vibrations) चले गए थे और केवल सूक्ष्म कम्पन, जिनको उन्होंने भावराशि कहा था, बच रहे थे। उन्होंने चारो ओर केवल सूक्ष्म कम्पन देखे थे। सम्पूर्ण जगत् उनकी आँखो मे मानो एक महान् भाव-समुद्र मे परिणत हो गया था। उस महासमुद्र मे वे और जगत् की प्रत्येक व्यष्टि मानो एक-एक छोटा भाव-भँवर बन गई थी।

इस प्रकार हम देखते है कि अन्तर्जगत् मे भी एक अखण्ड भाव विद्यमान है। और अन्त मे जब हम बाह्य, अन्तर—सम्पूर्ण जगत् को छोडकर उस आत्मा के समीप जाते है तब वहाँ एक अखण्ड के अतिरिक्त और कुछ नही अनुभव करते। स्थूल और सूक्ष्म सब प्रकार की गतियो के पीछे वही एक अखण्ड सत्ता अपनी महिमा में विराजमान है। यहाँ तक कि इन परिदृश्यमान गतियो के भीतर भी—शक्ति की स्थूल अभिव्यक्तियो के भीतर भी—केवल एक अखण्ड भाव विद्यमान है। इन सत्यो को अब अस्वीकार नही किया जा सकता, क्योकि ये सब विज्ञान द्वारा प्रमाणित हो चुके है। आधुनिक पदार्थविज्ञान ने यह प्रमाणित कर दिया है कि शक्ति-समष्टि सर्वत्र समान है और यह भी सिद्ध हो चुका है कि यह शक्ति-समष्टि दो तरह से अवस्थित है—कभी स्तिमित या अव्यक्त अवस्था मे और कभी व्यक्त अवस्था मे। व्यक्त अवस्था में वह इन नानाविध शक्तियो के रूप धारण करती है। इस प्रकार वह अनन्त काल से कभी व्यक्त और कभी अव्यक्त भाव धारण करती आ रही है। इस शक्तिरूपी प्राण के सयम का नाम ही प्राणायाम है।

इस प्राणायाम के साथ श्वास-प्रश्वास की क्रिया का सम्बन्ध

बहुत थोडा है। यथार्थ प्राणायाम का अधिकारी होने मे यह श्वास प्रश्वास की क्रिया एक उपाय मात्र है। मनुष्य-देह मे प्राण का सबसे स्पष्ट प्रकाश है—फेफडे की गति। यदि यह गति रुक जाय, तो देह की सारी क्रियाएँ तुरन्त बन्द हो जायँगी, शरीर के भीतर जो अन्यान्य शक्तियाँ कार्य कर रही थी, वे भी शान्त भाव धारण कर लेगी। पर ऐसे भी व्यक्ति है, जो अपने को इस प्रकार शिक्षित कर लेते है कि उनके फेफडे की गति रुक जाने पर भी उनका शरीर नही जाता। ऐसे बहुत से व्यक्ति हैं, जो बिना साँस लिए कई महीने तक जमीन के अन्दर गडे रह सकते है, पर तो भी उनका देह-नाश नही होता। सूक्ष्मतर शक्ति के पास जाने के लिए हमें स्थूलतर शक्ति की सहायता लेनी पडती है। इस प्रकार क्रमश सूक्ष्म से सूक्ष्मतर शक्ति मे जाते हुए अन्त में हम चरम लक्ष्य पर पहुँच जाते है। शरीर मे जितने प्रकार की क्रियाएँ है, उनमे फेफडे की क्रिया ही सबसे सहज रूप से प्रत्यक्ष है। वह मानो देह के भीतर गतिनियामक चक्र के रूप मे अन्य सब शक्तियो को चला रही है। प्राणायाम का यथार्थ अर्थ है—फेफडे की इस गति का रोध करना। इस गति के साथ श्वास का निकट सम्बन्ध है। यह गति श्वास-प्रश्वास द्वारा उत्पन्न नही होती, वरन् वही श्वास-प्रश्वास की गति को उत्पन्न कर रही है। यह गति ही, पम्प की भाँति, वायु को भीतर खीचती है। प्राण इस फेफडे को चलाता है और फेफडे की यह गति फिर वायु को खीचती है। इस तरह यह स्पष्ट है कि प्राणायाम श्वास-प्रश्वास की क्रिया नही है। पेशियो की जो शक्ति फेफडे को चलाती है, उसको वश मे लाना ही प्राणायाम है। जो शक्ति स्नायुओं के भीतर से मासपेशियो के पास जाती है और जो फेफडे का

संचालन करती है, वही प्राण है। प्राणायाम की साधना में हमें उसी को वश में लाना है। जब प्राण पर विजय प्राप्त हो जायगी, तब हम देखेंगे कि शरीरस्थ प्राण की अन्यान्य सभी क्रियाएँ हमारे अधिकार में आ गई हैं। मैंने स्वयं ऐसे व्यक्ति देखे हैं, जिन्होंने अपने शरीर की सारी पेशियों को वशीभूत कर लिया है अर्थात् वे उनको इच्छानुसार चला सकते हैं। और वे ऐसा कर भी क्यों न सकेंगे? यदि कुछ पेशियाँ हमारी इच्छा के अनुसार चलाई जा सकती हों, तो दूसरी सब पेशियों और स्नायुओं को हम इच्छानुसार क्यों न चला सकेंगे? इसमें असम्भव क्या है? कभी हमारी इस संयम-शक्ति का लोप हो गया है, और वे पेशियाँ इच्छानुग न हो स्वैर हो गई हैं। हम इच्छानुसार कानों को नहीं हिला सकते, परन्तु हम जानते हैं कि पशुओं में यह शक्ति है। हममें यह शक्ति इसलिए नहीं है कि हम इसे काम में नहीं लाते। इसी को क्रम-अवनति अथवा पूर्वावस्था की ओर पुनरावर्तन (atavism) कहते हैं।

फिर, हम यह भी जानते हैं कि जिस शक्ति ने अभी अव्यक्त भाव धारण किया है, उसे हम फिर से व्यक्तावस्था में ला सकते हैं। दृढ अभ्यास के द्वारा शरीर की अनेक क्रियाएँ, जो अभी हमारी इच्छा के अधीन नहीं, फिर से पूरी तरह वश में लाई जा सकती है। इस प्रकार विचार करने पर दीख पडता है कि शरीर का प्रत्येक अंश हम पूरी तरह अपनी इच्छा के अधीन कर सकते हैं, इसमें कुछ भी असम्भव नहीं, बल्कि यह तो पूर्णरूपेण सम्भव है। योगी प्राणायाम द्वारा इसमें कृतकार्य होते हैं। तुम लोगों ने योगशास्त्र के बहुत से ग्रन्थों में लिखा देखा होगा कि श्वास लेने के समय सम्पूर्ण शरीर को प्राण से पूर्ण

कर लो। अँगरेजी अनुवाद मे प्राण शब्द का अर्थ किया गया है श्वास। इससे तुम्हे सहज ही सन्देह हो सकता है कि श्वास से सम्पूर्ण शरीर को कैसे पूरा किया जाय। वास्तव मे यह अनुवादक का दोष है। देह के सारे अगो को प्राण अर्थात् इस जीवनी-शक्ति द्वारा भरा जा सकता है, और जब तुम इसमे कृतकार्य होगे, तो सम्पूर्ण शरीर तुम्हारे वश हो जायगा, देह की समस्त व्याधियाँ, सारे दुख तुम्हारी इच्छा के अधीन हो जायँगे। इतना ही नही, दूसरे के शरीर पर भी अधिकार जमाने मे तुम कृतकार्य हो जाओगे। ससार मे भला-बुरा जो कुछ है, सभी सक्रामक है। यदि तुम्हारा शरीर किसी विशेष अवस्था में हो, तो उसकी प्रवृत्ति दूसरो में भी वही अवस्था उत्पन्न करने की होगी। यदि तुम सबल और स्वस्थकाय रहो, तो तुम्हारे समीपवर्ती व्यक्तियों में भी मानो कुछ स्वस्थ भाव, कुछ सबल भाव आयगा। और यदि तुम रुग्ण और दुर्बल रहो, तो देखोगे, तुम्हारे निकटवर्ती दूसरे व्यक्ति भी मानो कुछ रुग्ण और दुर्बल हो रहे है। तुम्हारी देह का कम्पन मानो दूसरे के भीतर सचारित हो जायगा। जब एक व्यक्ति दूसरे को रोगमुक्त करने की चेष्टा करता है, तब उसका पहला प्रयत्न यह होता है कि उसका स्वास्थ्य दूसरे में सचारित हो जाय। यही आदिम चिकित्साप्रणाली है। ज्ञातभाव से हो या अज्ञातभाव से, एक व्यक्ति दूसरे की देह में स्वास्थ्य सचार कर दे सकता है। यदि एक बहुत बलवान व्यक्ति किसी दुर्बल व्यक्ति के साथ सदैव रहे, तो वह दुर्बल व्यक्ति कुछ अशों में अवश्य सबल हो जायगा। यह बल-सचारण-क्रिया ज्ञातभाव से हो सकती है तथा अज्ञातभाव मे भी। जब यह क्रिया ज्ञात-भाव से की जाती है, तब इसका कार्य और भी शीघ्र तथा

उत्तम रूप से होता है। एक और दूसरे प्रकार की भी आरोग्य-प्रणाली है, जिसमें आरोग्यकारी स्वय बहुत स्वस्थकाय न होने पर भी दूसरे के शरीर मे स्वास्थ्य का सचार कर दे सकता है। इन स्थलो में उस आरोग्यकारी व्यक्ति को कुछ परिमाण में प्राणजयी समझना चाहिए। वह कुछ समय के लिए अपने प्राण मे मानो एक विशेष कम्पन उत्पन्न करके दूसरे के शरीर में उसका सञ्चार कर देता है।

अनेक स्थलो मे यह कार्य बहुत दूरसे भी साधित हुआ है। यदि सचमुच में दूरत्व का अर्थ क्रमविच्छेद (Break) हो, तो दूरत्व नामक कोई चीज नही। ऐसा दूरत्व कहाँ है, जहाँ परस्पर कुछ भी सम्बन्ध, कुछ भी योग नही ? सूर्य मे और तुममें क्या वास्तविक कोई क्रमविच्छेद है ? नही, यह तो समस्त एक अविच्छिन्न अखण्ड वस्तु है, तुम उसके एक अश हो और सूर्य उसका एक दूसरा अश। नदी के एक भाग और दूसरे भाग मे क्या क्रम-विच्छेद है ? तो फिर शक्ति भी एक जगह से दूसरी जगह क्यों न भ्रमण कर सकेगी ? इसके विरोध मे तो कोई युक्ति नही दी जा सकती। दूर से आरोग्य करने की घटनाएँ बिलकुल सत्य हैं। इस प्राण को बहुत दूर तक सचालित किया जा सकता है। पर हाँ, इसमे धोखेबाजी बहुत है। यदि इसमे एक घटना सत्य हो, तो अन्य सैकड़ो असत्य और छल-कपट के अतिरिक्त और कुछ नही। लोग इसे जितना सहज समझते है, यह उतना सहज नही। अधिकतर स्थलो में तो देखोगे कि आरोग्य करनेवाले चगा करने के लिए मानव-देह की स्वाभाविक स्वस्थता की ही सहायता लेते है। एक ऐलोपैथ चिकित्सक आता है, हैजे के रोगियो की चिकित्सा करता है और उन्हे दवा देता है; एक होमियोपैथ चिकित्सक

आता है, यह भी रोगियो को अपनी दवा देता है और शायद लोरैय की अपेक्षा अधिक रोगियो को चगा कर देता है। ऐसा क्यो ? इसलिए कि वह रोगी के शरीर मे किसी तरह का विपर्यय न लाकर प्रकृति को अपनी चाल से काम करने देता है । और विश्वास के बल से आरोग्य करनेवाला तो और भी अधिक रोगियो को चगा कर देता है, क्योकि वह अपनी इच्छाशक्ति द्वारा कार्य करके विश्वास-बल से रोगी की प्रसुप्त प्राण-शक्ति को प्रबुद्ध कर देता है ।

परन्तु विश्वास-बल से रोगो को अच्छा करनेवालो को सदा एक भ्रम हुआ करता है, वे सोचते है कि साक्षात् विश्वास ही लोगो को रोगमुक्त करता है। वास्तव मे यह नही कहा जा सकता कि केवल विश्वास इसका कारण है । ऐसे भी रोग है, जिसमें रोगी स्वय नही समझ पाता कि उसके कोई रोग है। रोगी का अपनी नीरोगता पर अतीव विश्वास ही रोग का एक प्रधान लक्षण है, और इससे आसन्नमृत्यु की सूचना होती है । इन सब स्थलो मे केवल विश्वास से रोग नही टलता । यदि विश्वास ही रोग की जड काटता हो, तो वे रोगी मौत के मुँह न गए होते । वास्तव में रोग तो इस प्राण की शक्ति से ही दूर होता है। प्राण-जित् पवित्रात्मा पुरुष अपने प्राण को एक निर्दिष्ट कम्पन मे ले जा सकते है और उसे दूसरे मे सचारित करके, उसके भीतर भी उसी प्रकार का कम्पन पैदा कर सकते हैं । तुम प्रतिदिन की घटना से यह प्रमाण ले सकते हो। मै वक्तृता दे रहा हूँ । वक्तृता देते समय मैं क्या कर रहा हूँ ? मै अपने मन के भीतर मानो एक विशिष्ट कम्पन पैदा कर रहा हूँ । और मै इस विषय में जितना ही कृतकार्य होऊँगा, तुम मेरी बात सुनकर उतने ही प्रभावित

आता है, वह भी रोगियो को अपनी दवा देता है और शायद लोगँय की अपेक्षा अधिक रोगियो को चगा कर देता है। ऐसा क्यो ? इसलिए कि वह रोगी के शरीर मे किसी तरह का विपर्यय ऐन लाकर प्रकृति को अपनी चाल से काम करने देता है। और विश्वास के वल से आरोग्य करनेवाला तो और भी अधिक रोगियो को चगा कर देता है, क्योकि वह अपनी इच्छाशक्ति द्वारा कार्य करके विश्वास-वल से रोगी की प्रसुप्त प्राण-शक्ति को प्रवुद्ध कर देता है।

परन्तु विश्वास-वल से रोगो को अच्छा करनेवालो को सदा एक भ्रम हुआ करता है, वे सोचते है कि साक्षात् विश्वास ही लोगो को रोगमुक्त करता है। वास्तव में यह नही कहा जा सकता कि केवल विश्वास इसका कारण है। ऐसे भी रोग है, जिसमें रोगी स्वय नही समझ पाता कि उसके कोई रोग है। रोगी का अपनी नीरोगता पर अतीव विश्वास ही रोग का एक प्रधान लक्षण है, और इससे आसन्नमृत्यु की सूचना होती है। इन सव स्थलों मे केवल विश्वास से रोग नही टलता। यदि विश्वास ही रोग की जड काटता हो, तो वे रोगी मौत के मुँह न गए होते। वास्तव मे रोग तो इस प्राण की शक्ति से ही दूर होता है। प्राण-जित् पवित्रात्मा पुरुष अपने प्राण को एक निर्दिष्ट कम्पन मे ले जा सकते हैं और उसे दूसरे में सचारित करके, उसके भीतर भी उसी प्रकार का कम्पन पैदा कर सकते है। तुम प्रतिदिन की घटना से यह प्रमाण ले सकते हो। मै वक्तृता दे रहा हूँ। वक्तृता देते समय मै क्या कर रहा हूँ ? मै अपने मन के भीतर मानो एक विशिष्ट कम्पन पैदा कर रहा हूँ। और मै इस विषय मे जितना ही कृतकार्य होऊँगा, तुम मेरी वात सुनकर उतने ही प्रभावित

आता है, यह भी रोगियो को अपनी दवा देता है और शायद लोपैथ की अपेक्षा अधिक रोगियो को चगा कर देता है। ऐसा क्यो ? इसलिए कि वह रोगी के शरीर मे किसी तरह का विपर्यय ऐन लाकर प्रकृति को अपनी चाल से काम करने देता है । और विश्वास के बल से आरोग्य करनेवाला तो और भी अधिक रोगियो को चगा कर देता है, क्योकि वह अपनी इच्छाशक्ति द्वारा कार्य करके विश्वास-बल से रोगी की प्रसुप्त प्राण-शक्ति को प्रबुद्ध कर देता है।

परन्तु विश्वास-बल से रोगो को अच्छा करनेवालो को सदा एक भ्रम हुआ करता है, वे सोचते है कि साक्षात् विश्वास ही लोगो को रोगमुक्त करता है। वास्तव मे यह नही कहा जा सकता कि केवल विश्वास इसका कारण है। ऐसे भी रोग है, जिसमें रोगी स्वय नही समझ पाता कि उसके कोई रोग है। रोगी का अपनी नीरोगता पर अतीव विश्वास ही रोग का एक प्रधान लक्षण है, और इससे आसन्नमृत्यु की सूचना होती है। इन सब स्थलो मे केवल विश्वास से रोग नही टलता। यदि विश्वास ही रोग की जड काटता हो, तो वे रोगी मौत के मुँह न गए होते। वास्तव में रोग तो इस प्राण की शक्ति से ही दूर होता है। प्राण-जित् पवित्रात्मा पुरुष अपने प्राण को एक निर्दिष्ट कम्पन मे ले जा सकते है और उसे दूसरे में सचारित करके, उसके भीतर भी उसी प्रकार का कम्पन पैदा कर सकते है। तुम प्रतिदिन की घटना से यह प्रमाण ले सकते हो। मै वक्तृता दे रहा हूँ। वक्तृता देते समय मै क्या कर रहा हूँ ? मै अपने मन के भीतर मानो एक विशिष्ट कम्पन पैदा कर रहा हूँ। और मै इस विषय मे जितना ही कृतकार्य होऊँगा, तुम मेरी बात सुनकर उतने ही प्रभावित

होगे। तुम लोगो को मालूम है, वक्तृता देते-देते मै जिस दिन मस्त हो जाता हूँ, उस दिन मेरी वक्तृता तुमको बहुत अच्छी लगती है, पर जब कभी मेरी उत्तेजना घट जाती है, तो तुम्हें मेरी वक्तृता मे उतना आनन्द नही मिलता।

जगत् को हिला-डुला देनेवाले तीव्र इच्छाशक्तिसम्पन्न महापुरुष अपने प्राण मे बहुत ऊँचा कम्पन उत्पन्न करके उस प्राण के वेग को इतना अधिक कर सकते है और उसको इतनी शक्ति से युक्त कर सकते है कि वह दूसरे को पल भर मे लपेट लेती है, हजारो मनुष्य उनकी ओर खिच जाते है और ससार के आधे लोग उनके भाव से परिचालित हो जाते है। जगत् मे जितने महापुरुष हुए है, सभी प्राणजित् थे। इस प्राण-सयम के बल से वे प्रबल इच्छाशक्तिसम्पन्न हो गए थे। वे अपने प्राण के भीतर अति उच्च कम्पन पैदा कर सकते थे, और उसी से उन्हे समस्त ससार पर प्रभाव विस्तार करने की क्षमता प्राप्त हुई थी। ससार में तेज या शक्ति के जितने विकास देखे जाते है, सभी प्राण के संयम से उत्पन्न होते है। मनुष्य को यह तथ्य भले ही मालूम न हो, पर और किसी तरह इसकी व्याख्या नही हो सकती। तुम्हारे शरीर मे यह प्राण कभी एक ओर अधिक और दूसरी ओर कम हो जाता है। प्राण के इस प्रकार असामजस्य से ही रोग की उत्पत्ति होती है। अतिरिक्त प्राण को हटाकर, जहाँ प्राण का अभाव है, वहाँ का अभाव भर सकने से ही रोग अच्छा हो जाता है। प्राण कहाँ अधिक है और कहाँ अल्प, इसका ज्ञान प्राप्त करना भी प्राणायाम का अग है। अनुभव-शक्ति इतनी सूक्ष्म हो जायगी कि मन समझ जायगा, पैर के अँगूठे मे या हाथ की उँगली में जितना प्राण आवश्यक है, उतना वहाँ नही है, और मन उस

प्राण के अभाव को पूरा करने मे भी समर्थ हो जायगा। इस प्रकार प्राणायाम के अनेक अग हैं। इनको धीरे-धीरे, एक के बाद एक, सीखना होगा। अतएव यह स्पष्ट है कि विभिन्न रूपो में प्रकाशित प्राण का सयम करना और उसको विभिन्न प्रकार से चलाना ही राजयोग का एकमात्र लक्ष्य है। जब कोई अपनी समुदय शक्तियो का सयम करता है, तब वह अपनी देह के भीतर के प्राण का ही सयम करता है। जब कोई ध्यान करता है, तो भी समझना चाहिए कि वह प्राण का ही सयम कर रहा है।'

महासागर की ओर यदि देखो, तो प्रतीत होगा कि वहाँ पर्वतकाय बडी-बडी तरगे हैं, फिर छोटी-छोटी तरगे भी है, और छोटे-छोटे बुलबुले भी। पर इन सबके पीछे वही अनन्त महा-समुद्र है। एक ओर वह छोटा बुलबुला अनन्त समुद्र से युक्त है, फिर दूसरी ओर वह बडी तरग भी उसी महासमुद्र से युक्त है। इसी प्रकार, ससार मे कोई महापुरुष हो सकता है, और कोई छोटा बुलबुला-जैसा सामान्य व्यक्ति, परन्तु सभी उसी अनन्त महाशक्ति-समुद्र से युक्त है। इस महाशक्ति से जीव का जन्मगत सम्बन्ध है। जहाँ भी जीवनी-शक्ति का प्रकाश देखो, वहाँ समझना कि उसके पीछे अनन्त शक्ति का भाण्डार है। एक छोटासा फफूँदी (कुकुरमुत्ता) है, वह, सम्भव है, इतना छोटा, इतना सूक्ष्म हो कि उसे अनुवीक्षण यन्त्र द्वारा देखना पडे, उससे आरम्भ करो। देखोगे कि वह अनन्त शक्ति के भाण्डार से क्रमश शक्ति सग्रह करके एक अन्य रूप धारण कर रहा है। कालान्तर में वह उद्भिद् के रूप मे परिणत होता है, वही फिर एक पशु का आकार ग्रहण करता है, फिर मनुष्य का रूप लेकर वही अन्त में ईश्वर-रूप में परिणत हो जाता है। हाँ, इतना अवश्य है कि

प्राकृतिक नियम से इस व्यापार के घटते-घटते लाखो साल पार हो जाते है। परन्तु यह समय है क्या? वेग—साधना का वेग बढा देकर समय काफी घटाया जा सकता है। योगियो का कहना है कि साधारण प्रयत्न से जिस काम को अधिक समय लगता है, वही, वेग बढा देने पर, बहुत थोडे समय में सध सकता है। हो सकता है, कोई मनुष्य इस ससार की अनन्त शक्तिराशि में से बहुत थोडी-थोडी शक्ति लेकर चले। इस प्रकार चलने पर उसे देव-जन्म प्राप्त करते, सम्भव है, एक लाख वर्ष लग जायँ, फिर और भी ऊँची अवस्था प्राप्त करते शायद पाँच लाख वर्ष लगे। फिर पूर्ण सिद्ध होते और भी पाँच लाख साल लगे। पर उन्नति का वेग बढा देने पर यह समय कम हो जाता है। पर्याप्त प्रयत्न करने पर छ वर्ष या छ महीने मे ही यह सिद्धिलाभ क्यो न हो सकेगा? युक्ति तो बताती है कि इसमे कोई निर्दिष्ट सीमाबद्ध समय नही है। सोचो, कोई वाष्पीय यन्त्र, निर्दिष्ट परिमाण में कोयला देने पर, प्रति घन्टा दो मील चल सकता है, तो अधिक कोयला देने पर वह और भी शीघ्र चलेगा। इसी प्रकार, यदि हम भी तीव्र वेगसम्पन्न (योगसूत्र—१।२१) हो, तो इसी जन्म में मुक्तिलाभ क्यो न कर सकेगे? हाँ, हम यह जानते अवश्य हैं कि अन्त मे सभी मुक्ति पाएँगे। पर इस प्रकार युग-युग तक हम प्रतीक्षा क्यो करे? इसी क्षण, इस शरीर में ही, इस मनुष्य-देह में ही हम मुक्ति-लाभ करने मे समर्थ क्यो न होगे? हम इसी समय वह अनन्त ज्ञान, वह अनन्त शक्ति क्यों न प्राप्त कर सकेगे?

आत्मा की उन्नति का वेग बढाकर किस प्रकार थोड़े समय मे मुक्ति पाई जा सकती है, यही सारी योग-विद्या का लक्ष्य और उद्देश्य है। जब तक सारे मनुष्य मुक्त नही हो जाते, तब तक

प्रतीक्षा करते हुए थोडा-थोडा करके अग्रसर न होकर, प्रकृति के अनन्त शक्ति-भाण्डार मे से शक्ति ग्रहण करने की शक्ति बढाकर किस प्रकार शीघ्र मुक्ति-लाभ किया जा सकता है, योगियो ने इसका उपाय खोज निकाला है। ससार के सभी महापुरुष, साधु और सिद्ध पुरुषो ने क्या किया है ? उन्होने एक जन्म मे ही, समय को कम करके, उन सब अवस्थाओ का भोग कर लिया है, जिनमे से होते हुए साधारण मानव करोडो जन्मो में मुक्त होता है। एक जन्म मे ही वे अपनी मुक्ति का मार्ग तय कर लेते है। वे दूसरी कोई चिन्ता नही करते, दूसरी बात के लिए एक निमिषमात्र भी समय नही देते। उनका पल भर भी व्यर्थ नही जाता। इस प्रकार उनकी मुक्ति का समय घट जाता है। एकाग्रता का यही अर्थ है कि शक्ति-सचय की क्षमता को बढाकर समय को घटा लेना। राजयोग इसी एकाग्रता की शक्ति को प्राप्त करने का विज्ञान है।

इस प्राणायाम के साथ प्रेततत्त्व (spiritualism) का क्या सम्बन्ध है ? वह भी एक तरह का प्राणायाम है। यदि यह सत्य हो कि परलोकगत आत्मा का अस्तित्व है और उसे हम देख भर नही पाते, तो यह भी बहुत सम्भव है कि यही पर शायद लाखो आत्माएँ है, जिन्हे हम न देख पाते है, न अनुभव कर पाते है, न छू पाते है। सम्भव है, हम सदा उनके शरीर के भीतर से आ-जा रहे हो। और यह भी बहुत सम्भव है कि वे भी हमे देखने या किसी प्रकार से अनुभव करने मे असमर्थ हो। यह मानो एक वृत्त के भीतर एक और वृत्त है, एक जगत् के भीतर एक और जगत्। जो एक ही भूमि (plane) पर रहते है, वे ही एक दूसरे को देख सकते है। हम पचेन्द्रियविशिष्ट प्राणी

हैं। हमारे प्राण का कम्पन एक विशेष प्रकार का है। जिनके प्राण का कम्पन हमारी तरह का है, उन्ही को हम देख सकेगे। परन्तु यदि कोई ऐसा प्राणी हो, जिसका प्राण अपेक्षाकृत उच्च कम्पन-शील है, तो उसे हम न देख पाएंगे। प्रकाश की उज्ज्वलता अत्यन्त अधिक बढ जाने पर हम उसे नही देख पाते, किन्तु बहुत से प्राणियो की आँखे ऐसी शक्तियुक्त है कि वे उस तरह का प्रकाश देख सकती है। इसके विपरीत, यदि आलोक के परमाणुओ का कम्पन अत्यन्त मृदु या हल्का हो, तो भी उसे हम नही देख पाते, परन्तु उल्लू और बिल्ली आदि प्राणी उसे देख लेते है। हमारी दृष्टि इस प्राण-कम्पन के एक विशेप प्रकार को ही देखने मे समर्थ है। इसी प्रकार वायुराशि की बात लो। वायु मानो स्तर-पर-स्तर रची हुई है। पृथ्वी का निकटवर्ती स्तर अपने से ऊँचे-वाले स्तर से अधिक घना है, और इस तरह हम जितने ऊँचे उठते जायँगे, हमे यही दिखेगा कि वायु क्रमश तरल होती जा रही है। इसी प्रकार समुद्र की बात लो, समुद्र के जितने ही गहरे प्रदेश मे जाओगे, पानी का दबाव उतना ही बढेगा। जो प्राणी समुद्र के नीचे रहते हैं, वे कभी ऊपर नही आ सकते, क्योकि यदि वे आयँ, तो उसी समय उनका शरीर टुकडे-टुकडे हो जाय।

सम्पूर्ण जगत् को 'ईथर' (आकाश-तत्त्व) के एक समुद्र के रूप में सोचो। प्राण की शक्ति से वह मानो स्पन्दित हो रहा है और विभिन्न मात्रा मे स्पन्दनशील स्तरो मे बँटा हुआ है। तो देखोगे, जिस स्थान से स्पन्दन शुरू हुआ है, उससे तुम जितनी दूर जाओगे, उतना ही वह स्पन्दन मृदु रूप से अनुभूत होगा, केन्द्र के पास स्पन्दन बहुत द्रुत होता है। और भी सोचो, भिन्न-भिन्न प्रकार के स्पन्दन एक-एक स्तर हैं। इस सम्पूर्ण

स्पन्दन-क्षेत्र को एक वृत्त के रूप मे सोचो, सिद्धि उसका केन्द्र है, इस केन्द्र से हम जितनी दूर जायँगे, स्पन्दन उतना ही मृदु होता जायगा। भूत सबसे बाहरी स्तर है, मन उससे निकटवर्ती, और आत्मा मानो केन्द्रस्वरूप है। इस प्रकार विचार करने से हम देखेंगे कि जो प्राणी एक स्तर पर वास करते है, वे एक दूसरे को पहिचान सकेगे, परन्तु अपने से नीचे या ऊँचे स्तरवाले जीवों को न पहिचान् सकेगे। फिर भी, जैसे हम अनुवीक्षण यत्र और दूरबीन की सहायता से अपनी दृष्टि का क्षेत्र बढा सकते है, उसी प्रकार मन को विभिन्न प्रकार के स्पन्दनो से युक्त करके हम दूसरे स्तर का समाचार अर्थात् वहाँ क्या हो रहा है यह जान सकते है। समझो, इसी कमरे मे ऐसे बहुत से प्राणी हैं, जिन्हे हम नही देख पाते। वे सब प्राण के एक प्रकार के स्पन्दन के फल हैं, और हम एक दूसरे प्रकार के। मान लो कि वे प्राण के अधिक स्पन्दन से युक्त हैं और हम उनकी तुलना मे कम स्पन्दन से। हम भी प्राणरूप मूल वस्तु से गढे हुए है, और वे भी वही है। सभी एक ही समुद्र के भिन्न-भिन्न अश मात्र हैं। विभिन्नता है केवल स्पन्दन की मात्रा मे। यदि मन को मैं अधिक स्पन्दन-विशिष्ट कर सका, तो मै फिर इस स्तर पर न रहूँगा, मै फिर तुम लोगो को न देख पाऊँगा। तुम मेरी दृष्टि से अन्तर्हित हो जाओगे और वे मेरी आँखो के सामने आ जायँगे। तुममें से शायद बहुतो को मालूम है कि यह व्यापार सत्य है। मन को इस प्रकार उच्च से उच्चतर स्पन्दन-विशिष्ट करने को योगशास्त्र में एकमात्र 'समाधि' शब्द द्वारा अभिहित किया गया है। समाधि की निम्नतर अवस्थाओ मे इन अदृश्य प्राणियो को प्रत्यक्ष किया जाता है। और समाधि की सर्वोच्च

अवस्था तो वह है, जब हमे सत्यस्वरूप ब्रह्म के दर्शन होते है। तब हम उस उपादान को जान लेते है, जिससे इन सब बहुविध जीवों की उत्पत्ति हुई है। जैसे एक मृत्पिण्ड को जान लेने पर समस्त मृत्पिण्ड ज्ञात हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म-दर्शन से सम्पूर्ण जगत् भी जाना जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते है कि प्रेततत्त्व-विद्या में जो कुछ सत्य है, वह भी प्राणायाम के ही अन्तर्भूत है। इसी प्रकार, जब कभी तुम देखो कि कोई दल या सम्प्रदाय किसी रहस्यात्मक या गुप्त तत्त्व के आविष्कार की चेष्टा कर रहा है, तो समझना, वह यथार्थत. किसी परिमाण मे इस राजयोग की ही साधना कर रहा है, प्राण-सयम की ही चेष्टा कर रहा है। जहाँ कही किसी प्रकार की असाधारण शक्ति का विकास हुआ है, वहाँ प्राण की ही शक्ति का विकास समझना चाहिए। यहाँ तक कि भौतिक विज्ञान भी प्राणायाम के अन्तर्गत किए जा सकते हैं। वाष्पीय यत्र को कौन संचालित करता है? प्राण ही बाष्प के भीतर से उसको चलाता है। ये जो विद्युत् की अद्भुत क्रियाएँ दीख पडती है, ये सब प्राण के छोड भला और क्या हो सकती है? पदार्थ-विज्ञान है क्या? वह बाहरी उपायों द्वारा प्राणायाम है। प्राण जब मानसिक शक्ति के रूप से प्रकाशित होता है, तब मानसिक उपायो द्वारा ही उसका सयम किया जा सकता है। जिस प्राणायाम मे प्राण के स्थूल रूपो को बाह्य उपायो द्वारा जीतने की चेष्टा की जाती है, उसे पदार्थ-विज्ञान या भौतिक विज्ञान कहते है, और जिस प्राणायाम मे प्राण के मानसिक विकासो को मानसिक उपायो द्वारा सयत करने की चेष्टा की जाती है, इसी को राजयोग कहते हैं।

चतुर्थ अध्याय

प्राण का आध्यात्मिक रूप

योगियो के मतानुसार मेरुदण्ड के भीतर इडा और पिंगला नाम के दो स्नायविक शक्तिप्रवाह, और मेरुदण्डस्थ मज्जा के बीच सुषुम्ना नाम की एक शून्य नाली है। इस शून्य नाली के सबसे नीचे कुण्डलिनी का आधारभूत पद्म अवस्थित है। योगियों का कहना है कि वह त्रिकोणाकार है। योगियो की रूपक भाषा में कुण्डलिनी शक्ति उस स्थान पर कुण्डलाकार हो विराज रही है। जब यह कुण्डलिनी शक्ति जगती है, तब वह इस शून्य नाली के भीतर से मार्ग बनाकर ऊपर उठने का प्रयत्न करती है, और ज्यो-ज्यो वह एक-एक सोपान ऊपर उठती जाती है, त्यो-त्यों मन के स्तर-पर-स्तर मानो खुलते जाते है और योगी को अनेक प्रकार के अलौकिक दर्शन होने लगते है तथा अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त होने लगती हैं। जब वह कुण्डलिनी मस्तक पर चढ़ जाती है, तब योगी सम्पूर्ण रूप से शरीर और मन से पृथक हो जाते हैं और उनकी आत्मा अपने मुक्त स्वभाव की उपलब्धि करती है। हमें मालूम है कि मेरुमज्जा एक विशेष प्रकार से गठित है। अँगरेजी के आठ अंक (8) को यदि इस तरह (∞) लम्बा कर लिया जाय, तो देखेंगे कि उसके दो अंश है और वे दोनों अंश बीच से जुड़े हुए हैं। इस तरह के अनेक अंकों को एक-पर-एक रखने पर जैसा दीख पड़ता है, मेरुमज्जा बहुत-कुछ वैसी ही है। उसके बाईं ओर इडा है और दाहिनी ओर पिंगला, और जो शून्य नाली मेरुमज्जा के ठीक बीच में से गई है, वही सुषुम्ना है। कटिप्रदेशस्थ मेरुदण्ड की कुछ अस्थियों के बाद ही मेरुमज्जा

समाप्त हो गई है, परन्तु वहाँ से भी तागे के समान एक बहुत ही सूक्ष्म पदार्थ बराबर नीचे उतरता गया है। सुषुम्ना नाली वहाँ भी अवस्थित है, परन्तु वहाँ बहुत सूक्ष्म हो गई है। नीचे की ओर उस नाली का मुँह बन्द रहता है। उसके निकट ही कटिप्रदेशस्थ नाडी-जाल (Sacral Plexus) अवस्थित है। आजकल के शारीरविधानशास्त्र (Physiology) के मत से वह त्रिकोणाकार है। इन विभिन्न नाडी-जालो के केन्द्र मेरुमज्जा के भीतर अवस्थित है, वे नाडी-जाल योगियो के भिन्न-भिन्न पद्मो या चक्रो के तौर पर लिए जा सकते है।

योगियो का कहना है कि सबसे नीचे मूलाधार से लेकर मस्तिष्क मे स्थित सहस्रार या सहस्रदल पद्म तक कुछ केन्द्र है। यदि हम उन पद्मो को पूर्वोक्त नाडी-जाल (plexus) समझें, तो आजकल के शारीरविधानशास्त्र के द्वारा बहुत सहज ही योगियों की बात का मर्म समझ मे आ जायगा। हमे मालूम है कि हमारे स्नायुओ के भीतर दो प्रकार के प्रवाह हैं, उनमे से एक को अन्तर्मुखी और दूसरे को बहिर्मुखी, एक को ज्ञानात्मक और दूसरे को गति-आत्मक, एक को केन्द्र की ओर जानेवाला और दूसरे को केन्द्र से दूर जानेवाला कहा जा सकता है। उनमे से एक मस्तिष्क की ओर सवाद ले जाता है, और दूसरा मस्तिष्क से बाहर, समुदय अगो मे। परन्तु अन्त मे ये प्रवाह मस्तिष्क से सयुक्त हो जाते हैं। आगे आनेवाले विषय को स्पष्ट रूप से समझने के लिए हमे कुछ और बाते ध्यान मे रखनी होगी। यह मेरुमज्जा मस्तिष्क मे जाकर एक प्रकार के 'बल्ब' मे—medulla नामक एक अडाकार पदार्थ मे अन्त हो जाती है, जो मस्तिष्क के साथ संयुक्त नही है, वरन् मस्तिष्क मे जो एक

तरल पदार्थ है, उसमे तैरता रहता है। अत यदि सिर पर कोई आघात लगे, तो उस आघात की शक्ति उस तरल पदार्थ में विखर जाती है, और इससे उस वल्व को कोई चोट नही पहुँचती। यह एक महत्त्वपूर्ण वात है, जो हमे स्मरण रखनी चाहिए। दूसरे, हमे यह भी जान लेना होगा कि इन सव चक्रो मे से सवसे नीचे स्थित मूलाधार, मस्तिष्क मे स्थित सहस्रार और नाभिदेश मे स्थित मणिपुर—इन तीन चक्रो की वात हमे विशेष रूप से ध्यान में रखनी होगी।

अव पदार्थ-विज्ञान का एक तत्त्व हमे समझना है। हम लोगो ने विद्युत् और उससे सयुक्त अन्य वहुविध शक्तियो की वाते सुनी हैं। विद्युत् क्या है, यह किसी को मालूम नही। हम लोग इतना ही जानते है कि विद्युत् एक प्रकार की गति है। जगत् मे और भी अनेक प्रकार की गतियाँ है, विद्युत् से उनका भेद क्या है? मान लो, यह टेबुल चल रहा है और उसके परमाणु विभिन्न दिशाओ मे जा रहे है। अव यदि उनको अनवरत एक ही दिशा मे चलाया जाय, तो वही गति विद्युत् की शक्ति मे परिणत हो जायगी। समस्त परमाणु यदि एक ओर गतिशील हो, तो उसी को वैद्युत-गति कहते हैं। इस कमरे मे जो वायु है, उसके सारे परमाणुओ को यदि लगातार एक ओर चलाया जाय, तो यह कमरा एक महान् विद्युदाधार-यत्र (battery) के रूप मे परिणत हो जायगा।

शारीरविधानशास्त्र की एक और वात हमें स्मरण करनी होगी। वह यह कि जो स्नायु-केन्द्र श्वास-प्रश्वास-यत्रो को नियमित करता है, उसका सारे स्नायु-प्रवाहो पर भी कुछ अधिकार है। यह केन्द्र वक्ष के ठीक दूसरी ओर मेरुदण्ड में अवस्थित है। यह

श्वास-प्रश्वास-यंत्रो को नियमित करता है और दूसरे जो स्नायु-चक्र हैं, उन पर भी कुछ प्रभाव डालता है।

अब हम प्राणायाम-क्रिया के साधन का कारण समझ सकेगे। पहले तो, यदि श्वास-प्रश्वास की गति नियमित की जाय, तो शरीर के सारे परमाणु एक ही दिशा मे गतिशील होने का प्रयत्न करेगे। जब विभिन्न दिशाओ मे दौडनेवाला मन एकमुखी होकर एक दृढ इच्छाशक्ति के रूप मे परिणत होता है, तब सारे स्नायु-प्रवाह भी परिवर्तित होकर एक प्रकार की विद्युद्वत् गति प्राप्त करते हैं, क्योकि स्नायुओ पर विद्युत्-क्रिया करने पर देखा गया है कि उनके दोनो प्रान्तो मे धनात्मक और ऋणात्मक इन विपरीत शक्तिद्वय का उद्भव होता है। इसी से यह स्पष्ट है कि जब इच्छाशक्ति स्नायु-प्रवाह के रूप मे परिणत होती है, तब वह एक प्रकार के विद्युत् का आकार धारण कर लेती है। जब शरीर की सारी गतियाँ सम्पूर्ण रूप से एकाभिमुखी होती है, तब वह शरीर मानो इच्छाशक्ति का एक प्रबल विद्युदाधार बन जाता है। यह प्रबल इच्छाशक्ति प्राप्त करना ही योगी का उद्देश है। इस तरह, शारीरविधानशास्त्र की सहायता से प्राणायाम-क्रिया की व्याख्या की जा सकती है। वह शरीर के भीतर एक प्रकार की एकमुखी गति पैदा कर देती है और श्वास-प्रश्वास-केन्द्र पर आधिपत्य करके शरीर के अन्यान्य केन्द्रों को भी वश में लाने मे सहायता पहुँचाती हैं। यहाँ पर प्राणायाम का लक्ष्य मूलाधार में कुण्डलाकार मे अवस्थित कुण्डलिनी शक्ति को उद्बद्ध करना है।

हम जो कुछ देखते हैं, कल्पना करते है या जो कोई स्वप्न देखते हैं, सारे अनुभव हमे आकाश मे करने पडते है। हम

साधारणत जिस परिदृश्यमान आकाश को देखते हैं, उसका नाम है महाकाश। योगी जब दूसरो का मनोभाव समझने लगते है या अलौकिक वस्तुएँ देखने लगते हे, तब वे सब दर्शन चित्ताकाश में होते है। और जब अनुभूति विषयशून्य हो जाती है, जब आत्मा अपने स्वरूप मे प्रकाशित होती है, तब उसका नाम है चिदाकाश। जब कुण्डलिनी शक्ति जागकर सुषम्ना नाडी में प्रवेश करती है, तब जो सब विषय अनुभूत होते है, वे चित्ताकाश मे ही होते है। जब वह उस नाडी की अन्तिम सीमा मस्तक मे पहुँचती है, तब चिदाकाश मे एक विषयशून्य ज्ञान अनुभूत होता है।

अब विद्युत् की उपमा फिर से ली जाय। हम देखते हैं कि मनुष्य केवल तार के योग से एक जगह से दूसरी जगह विद्युत्-प्रवाह चला सकता है, परन्तु प्रकृति अपने महान् शक्ति-प्रवाहो को भेजने के लिए किसी तार का सहारा नही लेती। इसी से अच्छी तरह समझ मे आ जाता है कि किसी प्रवाह को चलाने के लिए वास्तव में तार की कोई आवश्यकता नही। हम तार के विना काम नही कर सकते, इसीलिए हमे उसकी आवश्यकता पडती है। जैसे विद्युत्-प्रवाह तार की सहायता से विभिन्न दिशाओ मे प्रवहित होता है, ठीक उसी तरह वाहर के विषय से जो ज्ञान-प्रवाह मस्तिष्क में अथवा मस्तिष्क से जो कर्मप्रवाह बहिर्देश मे प्रवाहित होता है, वह स्नायू-तन्तुरूप तार की ही सहायता से होता है। मेरुमज्जा-मध्यस्थ ज्ञानात्मक और कर्मात्मक स्नायुगच्छ-स्तम्भ ही योगियो की इडा और पिंगला नाडियाँ हैं। प्रधानत उन दोनो नाडियो के भीतर से ही पूर्वोक्त अन्तर्मुखी

---

* पाठक यह ध्यान रखें कि यह वात वेतार-का-तार के आविष्कार के पूर्व ही कही गई। थी

और वहिर्मुखी शक्तिप्रवाहद्वय आना-जाना कर रहे है। परन्तु वात अव यह है कि इस प्रकार के तार के समान किसी पदार्थ की सहायता विना मस्तिष्क से चारो ओर विभिन्न सवाद भेजना और भिन्न-भिन्न स्थानो से मस्तिष्क का विभिन्न संवाद ग्रहण करना सम्भव क्यो न होगा? प्रकृति में तो ऐसे व्यापार घटते देखे जाते है। योगियो का कहना है कि इसमें कृतकार्य होने पर ही भौतिक वन्धनों को लाँघा जा सकता है। तो अव इसमे कृतकार्य होने का उपाय क्या है? यदि मेरुदण्डमध्यस्थ सुषुम्ना के भीतर से स्नायु-प्रवाह चलाया जा सके, तो यह समस्या मिट जायगी। मन ने ही यह स्नायु-जाल तैयार किया है, और उसी को यह जाल तोडकर किसी प्रकार की सहायता की राह न देखते हुए, अपना काम करना होगा। तभी सारा ज्ञान हमारे अधिकार मे आयगा, देह का वन्धन फिर न रह जायगा। इसीलिए सुषुम्ना नाडी पर विजय पाना हमारे लिए इतना आवश्यक है। यदि तुम इस शून्य नाली के भीतर से, स्नायु-जाल की सहायता के विना भी मानसिक प्रवाह चला सको, तो वस इस समस्या की मीमासा हो गई। योगी कहते हैं कि वह सम्भव है।

साधारण मनुष्यो के भीतर सुषुम्ना नीचे की ओर वन्द रहती है; उससे कोई कार्य नही होता। योगियो का कहना है कि इस सुषुम्ना का द्वार खोलकर उससे स्नायु-प्रवाह चलाने की एक निर्दिष्ट प्रणाली है। उस साधना मे सफल होने पर स्नायु-प्रवाह उसके भीतर से चलाया जा सकता है। वाह्य विषय के स्पर्श से उत्पन्न प्रवाह जव किसी केन्द्र पर पहुँचता है, तव उस केन्द्र से एक प्रतिक्रिया होती है। स्वैर केन्द्रो (automatic centres) में उन प्रतिक्रियाओ का फल केवल गति होता है, पर

चेतनयुक्त केन्द्रो (conscious centres) में पहले अनुभव, और फिर बाद मे गति होती है। सारी अनुभूतियां बाहर से आई हुई क्रियाओ की प्रतिक्रिया मात्र है। तो फिर स्वप्न मे अनुभूति किस तरह होती है? उस समय तो बाहर की कोई क्रिया नही रहती। अतएव स्पष्ट है कि विषय के अभिघात से पैदा हुई स्नायविक गतिया शरीर के किसी-न-किसी स्थान पर अवश्य अव्यक्त भाव से रहती है। मान लो, मैंने एक नगर देखा। "नगर" नामक बाहरी वस्तु-समूह के आघात की जो प्रतिक्रिया है, उसी से उस नगर की अनुभूति होती है। अर्थात् उस नगर के बाहरी वस्तु-समूह द्वारा हमारे अन्तर्वाही स्नायुओ मे जो गतिविशेष उत्पन्न हुई है, उससे मस्तिष्क के भीतर के परमाणुओ में एक गति पैदा हो गई है। आज बहुत दिन बाद भी वह नगर मेरी स्मृति मे आता है। इस स्मृति में भी ठीक वही व्यापार होता है, पर अपेक्षाकृत हल्के रूप मे। किन्तु जो क्रिया मस्तिष्क के भीतर उस प्रकार का मृदुतर कम्पन ला देती है, वह भला कहा से आती है? यह तो कभी नही कहा जा सकता कि वह उसी पहले के विषय-अभिघात से पैदा हुई है। अत स्पष्ट है कि विषय-अभिघात से उत्पन्न गतिप्रवाह या सवेदनाएँ शरीर के किसी स्थान पर कुण्डलीकृत होकर विद्यमान हैं और उनके अभिघात के फल से ही स्वप्न-अनुभूति रुप मृदु प्रतिक्रिया की उत्पत्ति होती हैं। जिस केन्द्र में विषय-अभिघात से उत्पन्न गतिप्रवाहो के बचे हुए अश या सस्कार-समष्टि मानो सचित-सी रहती है, उसे मूलाधार कहते हैं, और उस कुण्डलीकृत क्रियाशक्ति को कुण्डलिनी कहते है। सम्भवत. गतिशक्तियो का अवशिष्ट अश भी इसी जगह कुण्डलिकृत होकर संचित है, क्योकि बाह्य

ओं
ओं तत सत
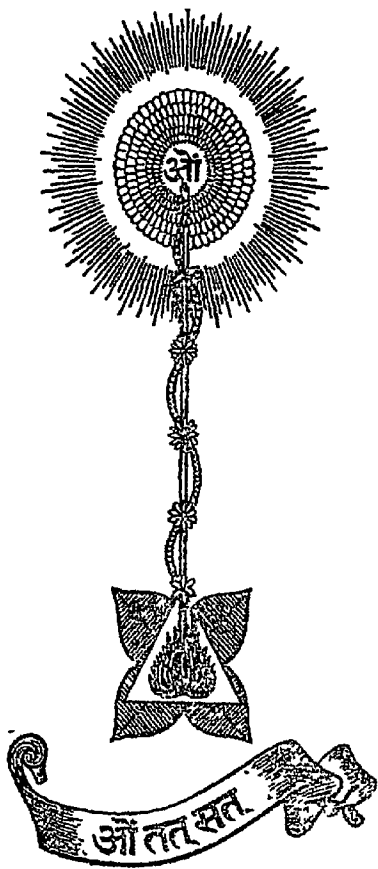
वस्तुओ पर दीर्घ काल चिन्तन और आलोचना के बाद, शरीर के जिस स्थान पर यह मूलाधार चक्र (सम्भवत Sacral Plexus) अवस्थित है, उसे गरम होते देखते हैं। अव, यदि इस कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर उसे ज्ञातभाव से सुषुम्ना नाली मे से प्रवाहित करते हुए एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र को ऊपर लाया जाय, तो वह ज्यो-ज्यो विभिन्न केन्द्रो पर क्रिया करेगी, त्यो-त्यो प्रवल प्रतिक्रिया की उत्पत्ति होगी। जब शक्ति का विलकुल सामान्य अश किसी स्नायु-तन्तु के भीतर से प्रवाहित होकर विभिन्न केन्द्रो से प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है, तव वही स्वप्न अथवा कल्पना के नाम से अभिहित होता है। किन्तु जव मूलाधार मे सचित विपुलायतन शक्तिपुज दीर्घकालव्यापी तीव्र ध्यान के बल से उद्‌बुद्ध होकर सुषुम्ना-मार्ग मे भ्रमण करता है और विभिन्न केन्द्रो पर आघात करता है, तो उस समय जो प्रतिक्रिया होती है, वह बड़ी ही प्रबल है। वह स्वप्न अथवा कल्पनाकालीन प्रतिक्रिया से तो अनन्तगुनी श्रेष्ठ है ही, पर जाग्रत्‌कालीन विषय-ज्ञान की प्रतिक्रिया से भी अनन्तगुनी प्रबल है। यही अतीन्द्रिय अनुभूति है। फिर जब वह शक्तिपुज समस्त ज्ञान के, समस्त अनुभूतियो के केन्द्रस्वरूप मस्तिष्क मे पहुँचता है, तब सम्पूर्ण मस्तिष्क और उसके अनुभवसम्पन्न प्रत्येक परमाणु से मानो प्रतिक्रिया होने लगती है। इसका फल है ज्ञान का पूर्ण प्रकाश या आत्मानुभूति। कुण्डलिनी शक्ति जैसे-जैसे एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र को जाती है, वैसे-ही-वैसे मन का मानो एक-एक परदा खुलता जाता है और तव योगी इस जगत्‌ की सूक्ष्म या कारण अवस्था की उपलब्धि करते है। और तभी विषय-स्पर्श से उत्पन्न हुई सवेदना और उसकी प्रतिक्रियारूप जो जगत्‌ के कारण है, उनका यथार्थ स्वरूप हमे ज्ञात हो जाता

है। अतएव तब हम सारे विषयो का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेते है; क्योंकि कारण को जान लेने पर कार्य का ज्ञान अवश्य आयगा।

(इस प्रकार हमने देखा कि कुण्डलिनी को जगा देना ही तत्त्वज्ञान, ज्ञानातीत अनुभूति या आत्मानुभूति का एकमात्र उपाय है।) कुण्डलिनी को जाग्रत् करने के अनेक उपाय हैं। किसी की कुण्डलिनी भगवान के प्रति प्रेम के बल से ही जाग्रत् हो जाती है, किसी की सिद्ध महापुरुषो की कृपा से और किसी की सूक्ष्म ज्ञान-विचार द्वारा। लोग जिसे अलौकिक शक्ति या ज्ञान कहते हैं, उसका जहाँ कही कुछ प्रकाश दिख पडे, तो समझना होगा कि वहाँ कुछ परिमाण में यह कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना के भीतर किसी तरह प्रवेश कर गई है। तो भी इस प्रकार की अलौकिक घटनाओ मे से अधिकतर स्थलो में देखा जायगा कि उस व्यक्ति ने बिना जाने एकाएक ऐसी कोई साधना कर डाली है, जिससे उसकी कुण्डलिनी शक्ति अज्ञात-भाव से कुछ परिमाण मे स्वतत्र होकर सुषुम्ना के भीतर प्रवेश कर गई है। जिस किसी प्रकार की उपासना हो, वह, ज्ञातभाव से अथवा अज्ञातभाव से, उसी एक लक्ष्य पर पहुँचा देती है अर्थात् उससे कुण्डलिनी जाग्रत् हो जाती है। जो सोचते है कि मैंने अपनी प्रार्थना का उत्तर पाया, उन्हे मालूम नही कि प्रार्थना-रूप मनोवृत्ति के द्वारा वे अपनी ही देह मे स्थित अनन्त शक्ति के एक बिन्दु को जगाने मे समर्थ हुए है। अतएव मनुष्य बिना जाने जिसकी विभिन्न नामो से, डरते-डरते और कष्ट उठाकर उपासना करता है, उसके पास किस तरह अग्रसर होना होगा, यह जान लेने पर समझ में आ जायगा कि वह प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर में प्रकृत जीवन्त शक्ति के रूप में विराजमान है और

अनन्त सुख की जननी है—योगीगण ससार के सामने उच्च कण्ठ से यही घोषणा करते हैं। अतएव राजयोग यथार्थ धर्मविज्ञान है। वह सारी उपासना, सारी प्रार्थना, विभिन्न प्रकार की साधना-पद्धति और समुदय अलौकिक घटनाओ की युक्तिसंगत व्याख्या है।

पंचम अध्याय

अध्यात्म प्राण का संयम

अब हम प्राणायाम की विभिन्न क्रियाओ के सम्बन्ध में चर्चा करेगे। हमने पहले ही देखा है कि योगियो के मत मे साधना का पहला अग फेफडे की गति को अपने अधीन करना है। हमारा उद्देश्य है—शरीर के भीतर जो सूक्ष्म गतियाँ हो रही हैं, उनका अनुभव प्राप्त करना। हमारा मन बिलकुल बाहर आ पडा है, वह भीतर की सूक्ष्म गतियो को बिलकुल नही पकड सकता। हम जब उनका अनुभव प्राप्त करने मे समर्थ होगे, तो उन पर विजय पा लेगे। ये स्नायविक शक्तिप्रवाह शरीर मे सर्वत्र चल रहे है, वे प्रत्येक पेशी मे जाकर उसको जीवन-शक्ति दे रहे है, किन्तु हम उनका अनुभव नही कर पाते। योगियो का कहना है कि प्रयत्न करने पर हम उनका अनुभव प्राप्त करना सीख जायँगे। पहले फेफडे की गति पर विजय पाने की चेष्टा करनी होगी। कुछ काल तक यह कर सकने पर हम सूक्ष्मतर गतियो को भी वश मे ला सकेगे।

अब प्राणायाम की क्रियाओ की चर्चा की जाय। पहले तो, सीधे होकर बैठना होगा। देह को ठीक सीधी रखना होगा। यद्यपि मेरुमज्जा मेरुदण्ड से सलग्न नही है, फिर भी वह मेरुदण्ड के भीतर अवस्थित है। टेढा होकर बैठने से वह अस्त-व्यस्त हो जाती है। अतएव देखना होगा कि वह स्वच्छन्द भाव से रहे। टेढे बैठकर ध्यान करने की चेष्टा करने से अपनी ही हानि होती है। शरीर के तीनो भाग—वक्ष, ग्रीवा और मस्तक—सदा एक रेखा मे ठीक सीधे रखने होगे। देखोगे, बहुत थोडे अभ्यास से वह श्वास-प्रश्वास

की नाई सहज हो जायगा। इसके बाद स्नायुओ को वशीभूत करने का प्रयत्न करना होगा। हमने पहले ही देखा है कि जो स्नायु-केन्द्र श्वास-प्रश्वास-यन्त्र के कार्य को नियमित करता है, वह दूसरे स्नायुओ पर भी कुछ प्रभाव डालता है। इसीलिए साँस लेना और साँस छोडना ताल-बद्ध (नियमित) रूप से करना आवश्यक है। हम साधारणत: जिस प्रकार साँस लेते और छोड़ते है, वह श्वास-प्रश्वास नाम के ही योग्य नही। वह बहुत अनियमित है। फिर स्त्री-पुरुष के श्वास-प्रश्वासो मे कुछ स्वाभाविक भेद भी हैं।

प्राणायाम-साधना की पहली क्रिया यह है,—भीतर निर्दिष्ट परिमाण मे साँस लो और बाहर निर्दिष्ट परिमाण मे साँस छोडो। इस प्रकार करने पर देह-यन्त्र का असामंजस्य-भाव दूर हो जायगा। कुछ दिन तक यह अभ्यास करने के बाद, साँस खींचने और छोड़ने के समय ओंकार अथवा अन्य किसी पवित्र शब्द का मन-ही-मन उच्चारण करने से अच्छा होगा। भारत में, प्राणायाम करते समय हम लोग श्वास के ग्रहण और त्याग की संख्या ठहराने के लिए एक, दो, तीन, चार, इस क्रम से न गिनते हुए कुछ सांकेतिक शब्दो का व्यवहार करते हैं। इसीलिए मैं तुम लोगो से प्राणायाम के समय ओंकार अथवा अन्य किसी पवित्र शब्द का व्यवहार करने के लिए कह रहा हूँ। चिन्तन करना कि वह शब्द श्वास के साथ ताल-बद्ध रूप से बाहर जा रहा है और भीतर आ रहा है। ऐसा करने पर देखोगे कि सारा शरीर क्रमश: मानो साम्यभाव धारण करता जा रहा है। तभी समझोगे, यथार्थ विश्राम क्या है। उसकी तुलना मे निद्रा तो विश्राम ही नही। एक बार यह विश्राम की अवस्था आने पर अतिशय थके

हुए स्नायु भी शान्त हो जायँगे और तब जानोगे कि पहले तुमनें कभी यथार्थ विश्राम का सुख नही पाया।

इस साधना का पहला फल यह देखोगे कि तुम्हारे मुख की कान्ति बदलती जा रही है। मुख की शुष्कता या कठोरता का भाव प्रदर्शित करनेवाली रेखाएँ दूर हो जायँगी। मन की शान्ति मुख से फूटकर बाहर निकलेगी। दूसरे, तुम्हारा स्वर बहुत मधुर हो जायगा। मैंने ऐसा एक भी योगी नही देखा, जिनके गले का स्वर कर्कश हो। कुछ महिने के अभ्यास के बाद ही ये चिह्न प्रकट होने लगेंगे। इस पहले प्राणायाम का कुछ दिन अभ्यास करने के बाद प्राणायाम की एक दूसरी ऊँची साधना ग्रहण करनी होगी। वह यह है—इडा अर्थात् बाईं नासिका द्वारा फेफड़े को धीरे-धीरे वायु से पूरा करो। उसके साथ स्नायु-प्रवाह मे मन का सयम करो, सोचो कि तुम मानो स्नायु-प्रवाह को मेरुमज्जा के नीचे भेजकर कुण्डलिनी-शक्ति के आधारभूत, मूलाधारस्थित त्रिकोणाकृति पद्म पर बडे जोर से आघात कर रहे हो। इसके बाद इस स्नायु-प्रवाह को कुछ क्षण के लिए उसी जगह धारण किए रहो। तत्पश्चात् कल्पना करो कि उस स्नायविक प्रवाह को श्वास के साथ दूसरी ओर से अर्थात् पिंगला द्वारा ऊपर खीच रहे हो। फिर दाहिनी नासिका से वायु धीरे-धीरे बाहर फेको। इसका अभ्यास तुम्हारे लिए कुछ कठिन ज्ञात होगा। सहज उपाय है—अँगूठे से दाहिनी नाक बन्द करके बाईं नाक से धीरे-धीरे वायु भरो। फिर अँगूठे और तर्जनी से दोनो नथुने बन्द कर लो और सोचो, मानो तुम स्नायु-प्रवाह को नीचे भेज रहे हो और सुषुम्ना के मूल देश मे आघात कर रहे हो। इसके बाद अँगूठा हटाकर दाहिनी नाक दारा वायु बाहर निकालो। फिर

बाई नासिका तर्जनी से बन्द करके दाहिनी नाक से धीरे-धीरे वायु-पूरण करो और फिर पहले की तरह दोनो नासिका-छिद्रो को बन्द कर लो। हिन्दुओं के समान प्राणायाम का अभ्यास करना इस देश (अमेरिका) के लिए कठिन होगा, क्योकि हिन्दू बाल्यकाल से ही इसका अभ्यास करते है, उनके फेफडे इसके अभ्यस्त है। यहाँ चार सेकन्ड से आरम्भ करके धीरे-धीरे बढाने पर अच्छा होगा। चार सेकन्ड तक वायु-पूरण करो, सोलह सेकन्ड बन्द करो और फिर आठ सेकन्ड में वायु का रेचन करो। इससे एक प्राणायाम होगा। पर उस समय मूलाधारस्थ त्रिकोणाकार पद्म पर मन स्थिर करना भूल न जाना। इस प्रकार की कल्पना से तुमको साधना मे बडी सहायता मिलेगी। एक तीसरे प्रकार का प्राणायाम यह है — धीरे-धीरे भीतर श्वास खीचो, फिर तनिक भी देर किए बिना धीरे-धीरे वायु रेचन करके बाहर ही श्वास कुछ देर के लिए रुद्ध कर रखो, सख्या पहले की प्राणायाम की तरह है। पूर्वोक्त प्राणायाम और इसमें भेद इतना ही है कि पहले के प्राणायाम में साँस भीतर रोकनी पडती है और यहाँ बाहर। यह प्राणायाम पहले से सीधा है। जिस प्राणायाम मे साँस भीतर रोकनी पड़ती है, उसका अधिक अभ्यास अच्छा नही। उसका सबेरे चार बार और शाम को चार बार अभ्यास करो। बाद में धीरे-धीरे समय और संख्या बढा सकते हो। तुम क्रमश देखोगे कि तुम बहुत सहज ही यह कर सक रहे हो और इससे तुम्हे बहुत आनन्द भी मिल रहा है। अतएव जब देखो कि तुम यह बहुत सहज ही कर सक रहे हो, तब बडी सावधानी और सतर्कता के साथ सख्या चार से छ बढा सकते हो। अनियमित रूप से साधना करने पर तुम्हारा अनिष्ट हो सकता है।

उपर्युक्त तीन प्रक्रियाओं में से पहली और अन्तिम क्रियाएँ कठिन भी नही और उनमे किसी प्रकार की विपत्ति की आशंका भी नही। पहली क्रिया का जितना अभ्यास करोगे, उतना ही तुम शान्त होते जाओगे। उसके साथ ओंकार जोड़कर अभ्यास करो, देखोगे, जब तुम दूसरे कार्य मे लगे हो, तब भी तुम उसका अभ्यास कर सक रहे हो। उस क्रिया के फल से, देखोगे, तुम अपने को सभी बातो मे अच्छा ही महसूस कर रहे हो। इस तरह कठोर साधना करते-करते एक दिन तुम्हारी कुण्डलिनी जग जायगी। जो दिन मे केवल एक या दो बार अभ्यास करेंगे, उनके शरीर और मन कुछ स्थिर भर हो जायँगे और उनका स्वर मधुर हो जायगा। परन्तु जो कमर बाँधकर साधना के लिए आगे बढेंगे, उनकी कुण्डलिनी जाग्रत् हो जायगी, उनके लिए सारी प्रकृति एक नया रूप धारण कर लेगी, उनके लिए ज्ञान का द्वार खुल जायगा। तब फिर ग्रन्थो मे तुम्हे ज्ञान की खोज न करनी होगी। तुम्हारा मन ही तुम्हारे निकट अनन्त-ज्ञान-विशिष्ट पुस्तक का काम करेगा। मैंने मेरुदण्ड के दोनो ओर से प्रवाहित इडा और पिंगला नामक दो शक्तिप्रवाहो का पहले ही उल्लेख किया है, और मेरुमज्जा के बीच से जानेवाली सुषुम्ना की बात भी कही है। यह इडा, पिंगला और सुषुम्ना प्रत्येक प्राणी में विद्यमान है। जिनके मेरुदण्ड है, उन सभी के भीतर ये तीन प्रकार की भिन्न-भिन्न क्रिया-प्रणालियाँ मौजूद है। परन्तु योगी कहते है, साधारण जीव में यह सुषुम्ना बन्द रहती है, उसके भीतर किसी तरह की क्रिया का अनुभव नही किया जा सकता, किन्तु इडा और पिंगला नाडियो का कार्य, अर्थात् शरीर के विभिन्न भागो में शक्तिवहन करना, सभी प्राणियो में होता रहता है।

केवल योगी में यह सुषुम्ना खुली रहती है। यह सुषुम्ना-द्वार खुलने पर उसके भीतर से स्नायविक शक्तिप्रवाह जब ऊपर चढ़ता है, तब चित्त उच्च से उच्चतर भूमि पर उठता जाता है, और अन्त मे हम अतीन्द्रिय राज्य मे चले जाते है। हमारा मन तब अतीन्द्रिय, ज्ञानातीत, पूर्णचैतन्य इत्यादि नामोवाली अवस्था प्राप्त कर लेता है। तब हम बुद्धि के अतीत प्रदेश मे चले जाते है, वहाँ तर्क नही पहुँच सकता। इस सुषुम्ना को खोलना ही योगी का एकमात्र उद्देश्य है। ऊपर मे जिन शक्तिवहन-केन्द्रों का उल्लेख किया गया है, योगियो के मत मे वे सुषुम्ना मे ही अवस्थित हैं। रूपक की भाषा मे उन्ही को पद्म कहते है। सबसे नीचेवाला पद्म सुषुम्ना के सबसे नीचे भाग मे अवस्थित है। उसका नाम है मूलाधार। इसके बाद दूसरा है स्वाधिष्ठान। तीसरा मणिपुर। फिर चौथा अनाहत, पाँचवाँ विशुद्ध, छठा आज्ञा, और सातवाँ है सहस्रार या सहस्रदल पद्म। यह सहस्रार सबसे ऊपर, मस्तिष्क में स्थित है। अभी इनमे से केवल दो केन्द्रो (चक्रो) की बात हम लेगे—सबसे नीचेवाले मूलाधार की और सबसे ऊपरवाले सहस्रार की। सबसे नीचेवाले चक्र में ही समस्त शक्तियाँ अवस्थित है, और उस शक्ति को उस जगह से लेकर मस्तिष्कस्थ सर्वोच्च चक्र पर ले जाना होगा। योगी कहते है, मनुष्य-देह मे जितनी शक्तियाँ है, उनमे ओज सबसे उत्कृष्ट कोटि की शक्ति है। यह ओज मस्तिष्क में सचित रहता है। जिसके मस्तक मे ओज जितने अधिक परिमाण में रहता है, वह उतना ही अधिक बुद्धिमान और आध्यात्मिक बल से बली होता है। एक व्यक्ति बडी सुन्दर भाषा में सुन्दर भाव व्यक्त करता है, परन्तु लोग आकृष्ट नही होते। और दूसरा

व्यक्ति न सुन्दर भाषा बोल सकता है, न सुन्दर ढग से भाव व्यक्त कर सकता है, परन्तु फिर भी लोग उसकी बात से मुग्ध हो जाते है। ऐसा क्यो ? यह ओज-शक्ति ही शरीर से निकलकर ऐसा अद्भुत कार्य करती है। इस ओज-शक्ति से युक्त पुरुष जो कुछ कार्य करते है, उसी मे महाशक्ति का विकास देखा जाता है। ऐसी है ओज की शक्ति !

यह ओज, थोडी-बहुत मात्रा मे, सभी मनुष्यो मे विद्यमान है। शरीर मे जितनी शक्तियाँ खेल कर रही है, उनका उच्चतम विकास यह ओज है। यह हमे सदा याद रखना चाहिए कि सवाल केवल परिवर्तन का है—एक ही शक्ति दूसरी शक्ति में परिणत हो जाती है। बाहरी ससार मे जो शक्ति विद्युत् अथवा चुम्बकीय शक्ति के रूप मे प्रकाशित हो रही है, वही क्रमश आभ्यन्तरिक शक्ति मे परिणत हो जायगी। आज जो शक्तियाँ पेशियो मे कार्य कर रही है, वे ही कल ओज के रूप मे परिणत हो जायँगी। योगी कहते है कि मनुष्य मे जो शक्ति काम-क्रिया-काम-चिन्तन आदि रूपो मे प्रकाशित हो रही है, उसका दमन करने पर वह सहज ही ओजधातु मे परिणत हो जाती है। और हमारे शरीर का सबसे नीचेवाला केन्द्र ही इस शक्ति का नियामक होने के कारण योगी इसकी ओर विशेष रूप से ध्यान देते है। वे सारी काम-शक्ति को लेकर ओजधातु में परिणत करने का प्रयत्न करते हैं। कामजयी स्त्री-पुरुष ही इस ओजधातु को मस्तिष्क मे सचित कर सकते है। इसीलिए सब देशो मे ब्रह्मचर्य सर्वश्रेष्ठ धर्म माना गया है। मनुष्य सहज ही अनुभव करता है कि काम को प्रश्रय देने पर सारा धर्मभाव, चरित्र-बल और मानसिक तेज जाता रहता है। इसी कारण, देखोगे, ससार में

जिन-जिन सम्प्रदायो मे बड़े-बडे धर्मवीर पैदा हुए है, उन सभी सम्प्रदायो ने ब्रह्मचर्य पर विशेष जोर दिया है। इसीलिए विवाह-त्यागी सन्यासी-दल की उत्पत्ति हुई है। इस ब्रह्मचर्य का पूर्ण रूप से—तन-मन-वचन से—पालन करना नितान्त आवश्यक है। ब्रह्मचर्य बिना राजयोग की साधना बडे खतरे की है, क्योंकि उससे अन्त में मस्तिष्क का विषम विकार पैदा हो सकता है। यदि कोई राजयोग का अभ्यास करे और साथ ही अपवित्र जीवन यापन करे, तो वह भला किस प्रकार योगी होने की आशा कर सकता है?

षष्ठ अध्याय

प्रत्याहार और धारणा

प्राणायाम के बाद प्रत्याहार की साधना करनी पडती है। प्रत्याहार क्या है ? तुम सबो को ज्ञात है कि विषयानुभूति किस तरह होती है। सबसे पहले, देखो, इन्द्रियो के द्वार-स्वरूप ये बाहर के यन्त्र है। फिर हैं इन्द्रियाँ। ये इन्द्रियाँ मस्तिष्क में स्थित स्नायु-केन्द्रो की सहायता से शरीर पर कार्य करती हैं। इसके बाद है मन। जब ये समस्त एकत्र होकर किसी बाहरी वस्तु के साथ सलग्न होते हैं, तभी हम उस वस्तु का अनुभव कर सकते है। किन्तु मन को एकाग्र करके केवल किसी एक इन्द्रिय से सयुक्त कर रखना बहुत कठिन है, क्योकि मन (विषयो का) दास है।

हम ससार मे सर्वत्र देखते हैं, कि सभी यह शिक्षा दे रहे हैं, 'भले हो जाओ,' 'भले हो जाओ,' 'भले हो जाओ।' ससार मे शायद किसी देश मे ऐसा बालक नही पैदा हुआ, जिसे मिथ्या भाषण न करने, चोरी न करने आदि की शिक्षा नही मिली, परन्तु कोई उसे यह शिक्षा नही देता कि वह इन असत् कर्मों से किस प्रकार बचे। केवल बात करने से काम नही बनता। वह चोर क्यो न बने ? हम तो उसको चोरी से निवृत्त होने की शिक्षा नही देते, उससे बस इतना ही कह देते है, 'चोरी मत करो।' यदि उसे मन सयम का उपाय सिखाया जाय, तभी वह यथार्थ मे शिक्षा प्राप्त कर सकता है, और वही उसकी सच्ची सहायता और उपकार है। जब मन इन्द्रिय नामक भिन्न-भिन्न शक्ति-केन्द्रों में सलग्न रहता है, तभी समस्त बाह्य और आभ्यन्तरिक कर्म

होते है। इच्छापूर्वक अथवा अनिच्छापूर्वक मनुष्य अपने मन को भिन्न-भिन्न (इन्द्रिय नामक) केन्द्रो मे सलग्न करने को वाध्य होता है। इसीलिए मनुष्य अनेक प्रकार के दुष्कर्म करता है और वाद में कष्ट पाता है। मन यदि अपने वश में रहता, तो मनुष्य कभी अनुचित कर्म न करता। मन को सयत करने का फल क्या है? यही कि मन सयत हो जाने पर वह फिर विषयों का अनुभव करनेवाली भिन्न-भिन्न इन्द्रियो के साथ अपने को सयुक्त न करेगा। और ऐसा होने पर सब प्रकार के भाव और इच्छाएँ हमारे वश मे आ जायेंगी। यहाँ तक तो वहुत स्पष्ट है। अब प्रश्न यह है, क्या यह कार्य में परिणत होना सम्भव है? हाँ, यह सम्पूर्ण रूप से सम्भव है। तुम लोग वर्तमान समय मे भी इसका कुछ आभास देख रहे हो, विश्वास के वल से आरोग्यलाभ करानेवाला सम्प्रदाय दु ख, कष्ट, अशुभ आदि के अस्तित्व को बिलकुल अस्वीकार कर देने की शिक्षा देता है। इसमे सन्देह नही कि इनका दर्शन वहुत-कुछ सिर के पीछे से हाथ ले जाकर नाक पकडने की तरह है, किन्तु वह भी एक प्रकार का योग है, किसी तरह उन लोगो ने उसका अविष्कार कर डाला है। जहाँ वे दु ख-कष्ट के अस्तित्व को अस्वीकार करने की शिक्षा देकर लोगो के दु ख दूर करने में सफल होते है, तो वहाँ समझना होगा कि उन्होने वास्तव मे प्रत्याहार की ही कुछ शिक्षा दी है, क्योकि वे उस व्यक्ति के मन को यहाँ तक सबल कर देते है कि वह इन्द्रियो की गवाही पर विश्वास ही नही करता। वशीकरणविद्यावाले (Hypnotists), इसी प्रकार, सूचनाशक्ति या आज्ञा (hypnotic suggestion) से कुछ देर के लिए अपने वश्य व्यक्तियो मे एक प्रकार का अस्वाभाविक प्रत्याहार ले आते है। जिसे साधारणत वशीकरण-सूचना-

कहते हैं, वह केवल रोगग्रस्त देह और कमजोर मन पर ही अपना प्रवाह फैला सकता है। वशीकरणकारी जब तक स्थिर-दृष्टि अथवा अन्य किसी उपाय द्वारा अपने वश्य व्यक्ति के मन को निष्क्रिय, जडतुल्य अस्वाभाविक अवस्था मे नही ले जा सकता, तब तक वह चाहे जो कुछ सोचने, सुनने या देखने का आदेश दे, उसका कोई फल न होगा।

वशीकरणकारी या विश्वास-बल से आरोग्य करनेवाले थोडे समय के लिए जो अपने वश्य व्यक्तियो के शरीरस्थ शक्ति केन्द्रो (इन्द्रियो) को वशीभूत कर लेते हैं, वह अत्यन्त निन्दार्ह कर्म है, क्योकि वह उस वश्य व्यक्ति को अन्त मे सर्वनाश के रास्ते ले जाता है। यह कोई अपनी इच्छाशक्ति के बल से अपने मस्तिष्कस्थ केन्द्रो का सयम तो है नही, यह तो दूसरे की इच्छा-शक्ति के एकाएक प्रबल आघात से वश्य व्यक्ति के मन को कुछ समय के लिए मानो जड कर रखना है। वह लगाम और बाहु-बल की सहायता से, गाडी खीचनेवाले उच्छृखल घोडो की उन्मत्त गति को सयत करना नही है, वरन् वह दूसरो से उन अश्वो पर तीव्र आघात करने को कहकर उनको कुछ समय के लिए चुप कर रखना है। उस व्यक्ति पर यह प्रक्रिया जितनी की जाती है, उतना ही वह अपने मन की शक्ति क्रमश खोने लगता है, और अन्त मे, मन को पूर्ण रूप से जीतना तो दूर रहा, उसका मन बिलकुल शक्तिहीन और विचित्र-सा हो जाता है तथा पागलखाने में ही उसकी चरम गति आ ठहरती है।

अपने मन को स्वय अपने मन की सहायता से वश मे लाने की चेष्टा के बदले इस प्रकार दूसरे की इच्छा से प्रेरित होकर मन का सयम अनिष्टकारक ही नही है, वरन् जिस उद्देश्य से वह

कार्य किया जाता है, वह भी सिद्ध नही होता । प्रत्येक जीवात्मा का चरम लक्ष्य है मुक्ति या स्वाधीनता—जडवस्तु और चित्त-वृत्ति के दासत्व से मुक्तिलाभ करके उन पर प्रभुत्व स्थापित करना, वाह्य और अन्त प्रकृति पर अधिकार जमाना । किन्तु उस दिशा में सहायता करने की वात तो अलग रही, दूसरे व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त इच्छाशक्ति का प्रवाह हम पर लगी हुई चित्तवृत्तिरूपी बन्धनो और प्राचीन कुसस्कारो की भारी वेडी में एक और कडी जोड देता है—फिर वह इच्छाशक्ति हम पर किसी भी रूप से क्यो न प्रयुक्त हो, और चाहे उससे हमारी इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष वशीभूत हो जायँ, चाहे वह एक प्रकार की पीडित या विकृतावस्था में हमें इन्द्रियो को सयत करने के लिए वाध्य करे । इसलिए सावधान ! दूसरे को अपने ऊपर इच्छा-शक्ति का सचालन न करने देना । अथवा दूसरे पर ऐसी इच्छाशक्ति का प्रयोग करके अनजाने उसका सत्यानाश न कर देना । यह सत्य है कि कोई-कोई लोग कुछ व्यक्तियो की प्रवृत्ति का मोड फेरकर कुछ दिनों के लिए उनका कुछ कल्याण करने मे कृतकार्य होते हैं, परन्तु साथ ही वे दूसरो पर इस वशीकरण-शक्ति का प्रयोग करके, विना जाने, लाखो नर-नारियों को एक प्रकार से विकृत जडावस्थापन्न कर डालते हैं, जिसके परिणामस्वरूप उन वश्य व्यक्तियो की आत्मा का अस्तित्व तक मानो लुप्त हो जाता है । इसलिए जो कोई व्यक्ति तुमसे अन्धविश्वास करने को कहता है, अथवा अपनी श्रेष्ठतर इच्छा-शक्ति के वल से लोगो को वशीभूत करके अपना अनुसरण करने के लिए वाध्य करता है, वह मनुष्य-जाति का भारी अनिष्ट करता है—भले ही वह इसे इच्छापूर्वक न करता हो ।

अतएव अपने मन का सयम करने के लिए सदा अपने ही मन की सहायता लो, और यह सदा याद रखो कि तुम यदि रोगग्रस्त नही हो, तो कोई भी बाहरी इच्छाशक्ति तुम पर कार्य न कर सकेगी। जो व्यक्ति तुमसे अन्धे के समान विश्वास कर लेने को कहता हो, उससे दूर ही रहो, वह चाहे कितना भी बडा आदमी या साधु क्यो न हो। ससार के सभी भागो मे ऐसे बहुत से सम्प्रदाय हैं, जिनके धर्म के प्रधान अग नाच-गान, उछल-कूद, चिल्लाना आदि है। वे जब सगीत, नृत्य और प्रचार करना आरम्भ करते है, तब उनके भाव मानो सक्रामक रोग की तरह लोगो के अन्दर फैल जाते है। वे भी एक प्रकार के वशीकरण-कारी हैं। वे थोडे समय के लिए भावुक व्यक्तियो पर गजब का प्रभाव डाल देते है। पर हाय! परिणाम यह होता है कि सारी जाति अध पतित हो जाती है। इस प्रकार की अस्वाभाविक बाहरी शक्ति के बल से किसी व्यक्ति या जाति के लिए ऊपर-ऊपर अच्छी होने की अपेक्षा अच्छी न रहना ही बेहतर है, और वह स्वास्थ्य का लक्षण है। इन धर्मोन्मत्त व्यक्तियो का उद्देश अच्छा भले ही हो, परन्तु इनको किसी उत्तरदायित्व का ज्ञान नही। इन लोगो द्वारा मनुष्य का जितना अनिष्ट होता है, उसका विचार करते ही हृदय स्तब्ध हो जाता है। वे नही जानते कि जो व्यक्ति सगीत, स्तव आदि की सहायता से—उनकी शक्ति के प्रभाव से, इस तरह एकाएक भगवद्भाव मे मत्त हो जाते है, वे अपने को केवल जड, विकृतभाववाले और शक्तिशून्य बना लेते है और सहज ही किसी भी भाव के वश में हो जाते हैं—फिर वह भाव कितना भी बुरा क्यो न हो। उसका प्रतिरोध करने की उनमें तनिक भी शक्ति नही रह जाती। इन अज्ञ, आत्मवचित व्यक्तियों

के मन मे यह स्वप्न में भी नही आता कि वे एक ओर जहाँ यह कहकर हर्षोत्फुल्ल हो रहे है कि उनमे मनुष्य के हृदय को परिवर्तित कर देने की अद्भुत शक्ति है—जिस शक्ति के सम्बन्ध मे वे सोचते हैं कि वह बादल के ऊपर अवस्थित किसी पुरुष से उन्हे मिली है—वहाँ साथ ही वे भावी मानसिक अवनति, पाप, उन्मत्तता और मृत्यु के बीज भी बो रहे है। अतएव, जिससे तुम्हारी स्वाधीनता नष्ट होती हो, ऐसे सब प्रकार के प्रभावों से सतर्क रहो। ऐसे प्रभावो को भयानक विपत्ति से भरा जानकर प्राणपण से उनसे दूर रहने की चेष्टा करो।"

जो इच्छामात्र से अपने मन को केन्द्रो मे सलग्न करने अथवा उनसे हटा लेने मे सफल हो गया है, उसी का प्रत्याहार सिद्ध हुआ है। प्रत्याहार का अर्थ है, एक ओर आहरण करना अर्थात् खीचना—मन की बहिर्गति को रोककर, इन्द्रियों की अधीनता से मन को मुक्त करके उसे भीतर की ओर खीचना। इसमे कृतकार्य होने पर हम यथार्थ में चरित्रवान होगे; और तभी समझेगे कि हम मुक्ति के मार्ग मे बहुत दूर बढ गए है। यह यदि न किया जा सका, तो हममे तथा एक यन्त्र में फिर अन्तर ही क्या!

मन को सयत करना कितना कठिन है! इसकी उपमा एक उन्मत्त वानर से दी गई है, और वह कोई असंगत बात नही। कही एक बन्दर था। उसकी मर्कट-स्वभाववाली चचलता तो थी ही, लेकिन उतने से सन्तुष्ट न हो, एक आदमी ने उसे काफी शराब पिला दी। इससे वह और भी चचल हो गया। इसके बाद उसे एक बिच्छू ने डक मार दिया। तुम जानते हो, किसी को बिच्छू डंक मार दे, तो वह दिन भर इधर-उधर कितना

तडपता रहता है। सो उस प्रमत्त अवस्था के ऊपर विच्छू का डक ! इससे वह बन्दर बहुत अस्थिर हो गया। तत्पश्चात् मानो उसके दु ख की मात्रा को पूरी करने के लिए एक भूत उस पर सवार हो गया। यह सब मिलाकर, सोचो, बन्दर कितना चचल हो गया होगा ! यह भाषा द्वारा व्यक्त करना असम्भव है। बस, मनुष्य का मन उस वानर के सदृश्य है। मन तो स्वभावत ही सतत चचल है, फिर वह वासनारूप मदिरा से मत्त है, इससे उसकी अस्थिरता बढ गई है। जब वासना आकर मन पर अधिकार कर लेती है, तब सुखी लोगो को देखने पर ईर्ष्यारूप विच्छू उसे डंक मारता रहता है। उसके भी ऊपर जब अहकाररूप पिशाच उसके भीतर प्रवेश करता है, तब तो वह अपने आगे किसी को नही गिनता। ऐसी तो हमारे मन की अवस्था है ! सोचो तो, इसका सयम करना कितना कठिन है !

अतएव मन के सयम का पहला सोपान यह है कि कुछ समय के लिये चुप्पी साधकर बैठे रहो और मन को अपने अनुसार चलने दो। मन सतत चचल है। वह बन्दर की तरह सदा कूद-फांद रहा है। यह मन-मर्कट जितनी इच्छा हो उछल-कूद मचाए, कोई हानि नही, धीर भाव से प्रतीक्षा करो और मन की गति देखते जाओ। लोग जो कहते है कि ज्ञान ही यथार्थ शक्ति है, यह बिलकुल सत्य है। जब तक मन की क्रियाओं पर नजर न रखोगे, उसका सयम न कर सकोगे। मन को इच्छानुसार घूमने दो। सम्भव है, बहुत बुरी-बुरी भावनाएँ तुम्हारे मन में आएँ। तुम्हारे मन में इतनी असत् भावनाएँ आ सकती है कि तुम सोचकर आश्चर्यचकित हो जाओगे। परन्तु देखोगे, मन के ये सब खेल दिन-पर-दिन कम

होते जा रहे है, दिन-पर-दिन मन कुछ-कुछ स्थिर होता आ रहा है। पहले कुछ महीने देखोगे, तुम्हारे मन मे हजारो विचार आएँगे, क्रमश वह संख्या घटकर सैकडो तक रह जायगी। फिर कुछ और महीने बाद वह और भी घट जायगी, और अन्त में मन पूर्ण रूप से अपने वश मे आ जायगा। पर हाँ, हमे प्रतिदिन धैर्य के साथ अभ्यास करना होगा। जब तक इजन के भीतर भाप रहेगी, तब तक वह चलता ही रहेगा। जब तक विषय हमारे सामने है, तब तक हम उन्हे देखेंगे ही। (अतएव, मनुष्य को, यह प्रमाणित करने के लिए कि वह इंजन की तरह एक यत्र मात्र नही है, यह दिखाना आवश्यक है कि वह किसी के अधीन नही। इस प्रकार मन का सयम करना और उसे विभिन्न इन्द्रियों के साथ सयुक्त न होने देना ही प्रत्याहार है। इसके अभ्यास का क्या उपाय है ? यह एक-दो दिन का काम नहीं, बहुत दिनो तक लगातार इसका अभ्यास करना होगा। धीर भाव से लगातार बहुत वर्षो तक अभ्यास करने पर तब कही इस विषय मे सफलता मिल पाती है।

कुछ काल तक प्रत्याहार की साधना करने के बाद, उसके बाद की साधना अर्थात् धारणा का अभ्यास करने का प्रयत्न करना होगा। प्रत्याहार के बाद है धारणा। धारणा का अर्थ है—मन को देह के भीतर या उसके बाहर किसी स्थानविशेष मे धारण या स्थापन करना। मन को स्थानविशेष मे धारण करने का अर्थ क्या है ? इसका अर्थ यह है कि मन को शरीर के अन्य सब स्थानों से अलग करके किसी एक विशेष अश के अनुभव मे बलपूर्वक लगाए रखना। मान लो, मैंने मन को हाथ मे धारण किया। तब शरीर के अन्यान्य अवयव विचार के विषय के बाहर हो जायेंगे।

हो जायगा। योगाभ्यास करने पर जो चिह्न योगियो में प्रकट होते हैं, देह की स्वस्थता उनमे प्रथम है। स्वर भी मधुर हो जायगा, स्वर मे जो कुछ दोष है, सब निकल जायगा। और भी अनेक प्रकार के चिह्न प्रकट होगे, पर ये ही प्रथम है। जो बहुत अधिक साधना करते हैं, उनमे और भी दूसरे लक्षण प्रकट होते हैं। कभी-कभी घंटा-ध्वनि की तरह का शब्द सुन पडेगा, मानो दूर में बहुत से घटे बज रहे है और वे सारे शब्द एकत्र मिलकर कानो मे लगातार आघात कर रहे है। कभी-कभी देखोगे, आलोक के छोटे-छोटे कण हवा में तैर रहे है और क्रमश कुछ-कुछ बड़े होते जा रहे हैं। जब ये लक्षण प्रकाशित होगे, तब समझना कि तुम द्रुत गति से साधना मे उन्नति कर रहे हो।

जो योगी होने की इच्छा करते है और कठोर अभ्यास करते हैं, उन्हें पहली अवस्था मे आहार के सम्बन्ध मे कुछ विशेष सावधानी रखनी होगी। जो शीघ्र उन्नति करने की इच्छा करते है, वे यदि कुछ महीने केवल दूध और अन्न आदि निरामिष भोजन पर रह सके, तो उन्हे साधना में बडी सहायता मिलेगी। किन्तु जो लोग दूसरे दैनिक कामो के साथ थोडा-बहुत अभ्यास करना चाहते है, उनके लिए अधिक भोजन न करने से ही काम बन जायगा। उन्हे खाद्य के सम्बन्ध में उतना विचार करने की आवश्यकता नही, वे जो इच्छा हो वही खा सकते है।

जो कठोर अभ्यास करके शीघ्र उन्नति करना चाहते हैं, उन्हे आहार के सम्बन्ध में विशेष सावधान रहना चाहिए। देह-यंत्र धीरे-धीरे जितना ही सूक्ष्म होता जाता है, उतना ही तुम देखोगे कि एक सामान्य अनियम से भी तुम्हारे सारे शरीर के भीतर बहुत बड़ा अनमेल उपस्थित हो जायगा। जब तक मन

पर सम्पूर्ण अधिकार नही हो जाता, तब तक आहार मे एक ग्रास की अल्पता या अधिकता सम्पूर्ण शरीर-यंत्र को बिल्कुल अप्रकृतिस्थ कर देगी। मन के पूर्ण रूप से अपने वश मे आने के बाद जो इच्छा हो, खाया जा सकता है। मन को एकाग्र करना आरम्भ करने पर देखोगे कि एक सामान्य पिन गिरने से ही ऐसा मालूम होगा मानो तुम्हारे मस्तिष्क मे से वज्र पार हो गया।' इन्द्रिय-यंत्र जितने सूक्ष्म होते जाते है, अनुभूति भी उतनी ही सूक्ष्म होती जाती है। इन्ही सब अवस्थाओ मे से होते हुए हमें क्रमश अग्रसर होना होगा। और जो लोग अध्यवसाय के साथ अन्त तक लगे रह सकते हैं, वे ही कृतकार्य होगे। सब प्रकार के तर्क और चित्त मे विक्षेप उत्पन्न करनेवाली बातो को दूर कर देना होगा। शुष्क और निरर्थक तर्कपूर्ण प्रलाप से क्या होगा? वह केवल मन के साम्यभाव को नष्ट करके उसे चचल भर कर देता है। इन सब तत्त्वो की उपलब्धि की जानी चाहिए। केवल बातों से क्या होगा? अतएव सब प्रकार की बकवास छोड दो। जिन्होने प्रत्यक्ष अनुभव किया है, केवल उन्ही के लिखे ग्रन्थ पढो।

शुक्ति के समान बनो। भारतवर्ष मे एक सुन्दर किम्वदन्ती प्रचलित है। वह यह कि आकाश मे स्वाति नक्षत्र के तुगस्थ रहते यदि पानी गिरे और उसकी एक बूँद किसी सीपी मे चली जाय, तो उनका मोती बन जाता है। सीपियो को यह मालूम है। अतएव जब वह नक्षत्र उदित होता है, तो वे सीपियाँ पानी की ऊपरी सतह पर आ जाती है, और उस समय की एक अनमोल बूँद की प्रतीक्षा करती रहती हैं। ज्योंही एक बूँद पानी उनके पेट मे जाता है, त्योंही उस जलकण को लेकर मुँह बन्द करके वे समुद्र के अथाह गर्भ में चली जाती हैं और वहाँ बडे धैर्य

के साथ उनसे मोती तैयार करने के प्रयत्न में लग जाती हैं। हमें भी उन्ही सीपियो की तरह होना होगा। पहले सुनना होगा, फिर समझना होगा, अन्त में बाहरी ससार से दृष्टि बिलकुल हटाकर, सब प्रकार की विक्षेपकारी बातो से दूर रहकर हमें अन्तर्निहित सत्य-तत्त्व के विकास के लिए प्रयत्न करना होगा। एक भाव को नया कहकर ग्रहण करके, उसकी नवीनता चली जाने पर फिर एक दूसरे नए भाव का आश्रय लेना—इस प्रकार बारम्बार करने से तो हमारी सारी शक्ति ही इधर-उधर बिखर जायगी। साधना करते समय नए भावो के प्रति इस प्रकार आकर्षण-रूप विपत्ति आया करती है। एक भाव को पकडो, उसी को लेकर रहो। उसका अन्त देखे बिना उसे मत छोड़ो। जो एक भाव लेकर, उसी मे मत्त होकर रह सकते है, उन्ही के हृदय में सत्य-तत्त्व का उन्मेष होता है। और जो यहाँ का कुछ, वहाँ का कुछ, इस तरह खटाइयाँ चखने के समान सब विषयो को मानो थोडा-थोडा चखते जाते है, वे कभी कोई चीज नही पा सकते। कुछ देर के लिए उनकी नसे उत्तेजित होकर उन्हे एक प्रकार का आनन्द भले ही मिल जाता हो, किन्तु इससे और कुछ फल नही होता। वे चिरकाल प्रकृति के दास होकर रहेंगे, कभी अतीन्द्रिय राज्य में विचरण न कर सकेंगे।

जो सचमुच योगी होने की इच्छा करते है, उन्हे इस प्रकार थोडा-थोडा हर विषय को पकडने का भाव छोड देना होगा। एक भाव लेकर सदा उसी में विभोर होकर रहो। सोते-जागते सब समय उसी को लेकर रहो। तुम्हारा मस्तिष्क, स्नायु, शरीर के सर्वांग उसी के विचार से पूर्ण रहे। दूसरे सारे विचार

छोड दो। यही सिद्ध होने का उपाय है, और इसी उपाय से बडे-बडे धर्मवीरो की उत्पत्ति हुई है। शेष सब तो बातें करनेवाले यन्त्र मात्र है। यदि हम सचमुच स्वय कृतार्थ होना और दूसरो का उद्धार करना चाहे, तो हमें थोथी बकवास छोडकर और भी भीतर प्रवेश करना होगा। इसे कार्य में परिणत करने का पहला सोपान यह है कि मन किसी तरह चचल न किया जाय। जिनके साथ बातचीत करने पर मन चचल हो जाता हो, उनका साथ छोड दो। तुम सबको मालूम है कि तुममें से प्रत्येक का किसी स्थानविशेष, व्यक्तिविशेष और खाद्यविशेष के प्रति एक विरक्ति का भाव रहता है। उन सबका परित्याग कर देना। और जो सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति के अभिलाषी हैं, उन्हे तो सत्-असत् सब प्रकार के सग को त्याग देना होगा। पूरी लगन के साथ, कमर कसकर साधना में लग जाओ—फिर मृत्यु भी आए तो क्या! "मन्त्र वा साधयामी शरीर वा पातयामि"—काम सो या प्राण ही जायें। फल की ओर आँख रखे बिना साधना मे निमग्न हो जाओ। निर्भीक होकर इस प्रकार दिन-रात साधना करने पर छ महीने के भीतर ही तुम एक सिद्ध योगी हो सकते हो। परन्तु दूसरे, जो थोडी-थोडी साधना करते है, सब विषयो को जरा-जरा चखते है, वे कभी कोई बडी उन्नति नही कर सकते। केवल उपदेश सुनने से कोई फल नही होता। जो लोग तमोगुण से पूर्ण है, अज्ञानी और आलसी हैं, जिनका मन कभी किसी वस्तु पर स्थिर नही रहता, जो केवल थोडे से आनन्द के अन्वेषण में है, उनके पास धर्म और दर्शन केवल क्षणिक आनन्द के लिए हैं। जो सिर्फ थोडे से आमोद-प्रमोद के लिए धर्म करने आते है, साधना मे अध्यवसायहीन है। वे धर्म की बाते सुनकर सोचते हैं

"वाह! ये तो अच्छी बाते है,' पर इसके बाद घर पहुँचते ही सारी बाते भूल जाते है। सिद्ध होना हो, तो प्रबल अध्यवसाय चाहिए, मन का अपरिमित बल चाहिए। अध्यवसायशील साधक कहता है, "मै चुल्लू से समुद्र पी जाऊँगा। मेरी इच्छा मात्र से पर्वत चूर-चूर हो जायँगे।" इस प्रकार का तेज, इस प्रकार का दृढ सकल्प लेकर कठोर साधना करो। उस परम पद की प्राप्ति अवश्य होगी।

सप्तम अध्याय

ध्यान और समाधि

अब तक हम राजयोग के अन्तरग साधनो को छोड शेष सभी अगो के सक्षिप्त विवरण समाप्त कर चुके है। इन अन्तरग साधनो का लक्ष्य एकाग्रता की प्राप्ति है। इस एकाग्रता-शक्ति को प्राप्त करना ही राजयोग का चरम लक्ष्य है। हम, मानव के नाते, देखते है कि हमारा समस्त ज्ञान, जिसे विचारजात ज्ञान कहते हैं, अह-बोध के अधीन है। मुझे इस टेबुल का बोध हो रहा है, तुम्हारे अस्तित्व का बोध हो रहा है, इसी प्रकार मुझे अन्यान्य वस्तुओ का भी बोध हो रहा है, और इस अह-बोध के कारण ही मै जान पा रहा हूँ कि तुम यहाँ हो, टेबुल यहाँ है, तथा और भी जो वस्तुएँ देख रहा हूँ, अनुभव कर रहा हूँ या सुन रहा हूँ, वे सब भी यही है। यह तो हुई एक ओर की बात॥ फिर एक दूसरी ओर यह भी देख रहा हूँ कि मेरी सत्ता कहने से जो कुछ बोध होता है, उसका अधिकाश मै अनुभव नही कर सकता। शरीर के भीतर के सारे यन्त्र, मस्तिष्क के विभिन्न अश—इन सबका ज्ञान किसी को भी नही।

जब हम भोजन करते है, तब वह ज्ञानपूर्वक करते है, परन्तु जब हम उसका सार भाग भीतर ग्रहण करते हैं, तब हम वह अज्ञातभाव से करते हैं। जब वह खून के रूप मे परिणत होता है, तब भी वह हमारे बिना जाने ही होता है। और जब इस खून से शरीर के भिन्न-भिन्न अग गठित होते है, तो वह भी हमारी जानकारी के बिना ही होता है। किन्तु यह सारा काम हमारे द्वारा ही होता है। इस शरीर के भीतर कोई अन्य

दस-बीस लोग तो बैठे नही है, जो यह काम कर देते हो। पर यह किस तरह हमे मालूम हुआ कि हमी इनको कर रहे है, दूसरा कोई नही ? इस सम्बन्ध में अनायास ही यह कहा जा सकता है कि आहार करने के साथ ही हमारा सम्पर्क है, खाना पचाना और उससे देह तैयार करना तो हमारे लिए एक दूसरा कोई कर दे रहा है। पर यह हो नही सकता, क्योकि यह प्रमाणित किया जा सकता है कि अभी जो काम हमारे विना जाने हो रहे है, वे लगभग सभी साधना के बल से हमारे जाने साधित हो सकते हैं। ऐसा मालूम होता है कि हमारा हृदय-यन्त्र अपने-आप ही चल रहा है, हममे से कोई उसको अपनी इच्छानुसार नही चला सकता, वह अपने ख्याल से आप ही चल रहा है। परन्तु इस हृदय के कार्य भी अभ्यास के बल से इस प्रकार इच्छाधीन किए जा सकते है कि वे इच्छा मात्र से शीघ्र या धीरे चलने लगेंगे, या लगभग बन्द हो जायँगे। हमारे शरीर के प्राय सभी अग वश में लाए जा सकते है। इससे क्या ज्ञात होता है ? यही कि इस समय जो काम हमारे विना जाने हो रहे है, उन्हे भी हम ही कर रहे हैं, पर हाँ, हम उन्हे अज्ञातभाव से कर रहे है, बस इतना ही। अतएव हम देखते है कि मानव-मन दो अवस्थाओ मे रहकर कार्य करता है। पहली अवस्था को ज्ञान-भूमि कह सकते है। जिन कामों को करते समय साथ-साथ, 'मै कर रहा हूँ,' यह ज्ञान सदा विद्यमान रहता है, वे कार्य ज्ञान-भूमि से साधित हो रहे है, ऐसा कहा जा सकता है। दूसरी भूमि को अज्ञान-भूमि कह सकते हैं। जो सब कार्य ज्ञान की निम्न भूमि से साधित होते है, जिसमे 'मै'-ज्ञान नही रहता, उसे अज्ञान-भूमि कह सकते है।

हमारे कार्यकलापो मे से जिनमें 'अह' मिला रहता है,

उन्हे ज्ञानयुक्त क्रिया और जिनमे 'अह्' का लगाव नही, उन्हें ज्ञानरहित या अज्ञानपूर्वक क्रिया कहते है। निम्न जाति के प्राणियों मे यह ज्ञानरहित क्रिया सहज ज्ञान (instinct) कहलाती है। उनकी अपेक्षा उच्चतर जीवो मे और सबसे उच्च जीव मनुष्य में यह दूसरे प्रकार की क्रिया, जिसमें 'अह्'-भाव रहता है, अधिक दीख पडती है—इसी को ज्ञानयुक्त क्रिया कहते है।

परन्तु इतने से ही सारी भूमियो का उल्लेख नही हो गया। मन इन दोनो से भी ऊँची भूमि पर विचरण कर सकता है। मन ज्ञान की भी अतीत अवस्था में जा सकता है। जिस प्रकार अज्ञान-भूमि से जो कार्य होता है, वह ज्ञान की निम्न भूमि का कार्य है, वैसे ही ज्ञान की उच्च भूमि से भी—ज्ञानातीत भूमि से भी कार्य होता है। उसमें भी किसी प्रकार का 'अह्'-भाव नही रहता। यह 'अह्'-भाव केवल बीच की अवस्था मे रहता है। जब मन इस रेखा के ऊपर या नीचे विचरण करता है, तब किसी प्रकार का 'अह्'-ज्ञान नही रहता, किन्तु तब भी मन की क्रिया चलती रहती है। जब मन इस रेखा के ऊपर अर्थात् ज्ञान-भूमि के अतीत प्रदेश मे गमन करता है, तब उसे समाधि, पूर्णचेतन-भूमि या ज्ञानातीत भूमि कहते है। यह समाधि-अवस्था ज्ञान के भी उस पार अवस्थित है। अब हम यह किस तरह समझें कि जो मनुष्य समाधि-अवस्था मे जाता है, वह ज्ञान-भूमि के निम्न स्तर मे नही चला जाता, बिलकुल हीन दशापन्न नही हो जाता, वरन् ज्ञानातीत भूमि मे चला जाता है? इन दोनो ही अवस्थाओ में तो अह्-भाव नही रहता! (इसका उत्तर यह है कि कौन ज्ञान-भूमि के निम्न देश मे और कौन ऊर्ध्व देश मे गया, इसका निर्णय फल देखने पर ही हो सकता है। जब कोई गहरी

नीद मे सोया रहता है, तब वह ज्ञान की निम्न भूमि मे चला जाता है। तब वह अज्ञातभाव से ही शरीर की सारी क्रियाएँ, श्वास-प्रश्वास, यहाँ तक कि शरीर-सचालन-क्रिया भी करता रहता है, उसके इन सब कामो मे 'अह'-भाव का कोई लगाव नही रहता, तब वह अज्ञान से ढका रहता है। वह जब नीद से उठता है, तब वह सोने के पहले जैसा था, वैसा ही रहता है, उसमे कुछ भी परिवर्तन नही होता। उसके सोने से पहले उसकी जो ज्ञानसमष्टि थी, नीद टूटने के बाद भी ठीक वही रहती है, उसमे कुछ भी वृद्धि नही होती। उसके हृदय मे कोई नया तत्त्व प्रकाशित नही होता। किन्तु जब मनुष्य समाधिस्थ होता है, तो समाधि प्राप्त करने के पहले यदि वह महामूर्ख रहा हो, अज्ञानी रहा हो, तो समाधि से वह महाज्ञानी होकर नीचे आता है।

अब सोच कर देखो, इस विभिन्नता का कारण क्या है। एक अवस्था से, मनुष्य जैसा गया था वैसा ही लौट आया, और दूसरी अवस्था से लौटकर मनुष्य ने ज्ञानालोक प्राप्त किया—वह एक महान् साधु, एक सिद्ध पुरुष के रूप में परिणत हो गया, उसका स्वभाव बिलकुल बदल गया, उसके जीवन ने बिलकुल दूसरा रूप धारण कर लिया। दोनो अवस्थाओ के ये दो विभिन्न फल हैं। अब बात यह है कि फल अलग-अलग होने पर कारण भी अवश्य अलग-अलग होगा। और चूँकि समाधि-अवस्था से लब्ध यह ज्ञानालोक, अज्ञानावस्था से लौटने के बाद की अवस्था में जो ज्ञान प्राप्त होता है अथवा साधारण ज्ञानावस्था में युक्ति-विचार द्वारा जो ज्ञान उपलब्ध होता है, उन दोनो से अत्यन्त उच्चतर है, इसलिए अवश्य वह ज्ञानातीत भूमि से आता है। इसीलिए समाधि को मैंने ज्ञानातीत भूमि के नाम से अभिहित किया है।

सक्षेप मे समाधि का तात्पर्य यही है। हमारे जीवन मे इस समाधि की उपयोगिता कहाँ है? समाधि की विशेष उपयोगिता है। हम जान-बूझकर जो काम करते है, जिसे हम विचार का क्षेत्र कहते है, वह सकीर्ण और सीमित है। मनुष्य की युक्ति एक छोटेसे वृत्त मे ही भ्रमण कर सकती है, वह कभी उसके बाहर नही जा सकती। हम जितना ही उसके बाहर जाने का प्रयत्न करते है, उतना ही वह असम्भव-सा जान पडता है। ऐसा होते हुए भी, मनुष्य जिसे अत्यन्त कीमती और सबसे प्रिय समझता है, वह तो उस युक्तिराज्य के बाहर ही अवस्थित है। अविनाशी आत्मा है या नही, ईश्वर है या नही, इस जगत् के नियन्ता—परमज्ञान-स्वरूप कोई है या नही—इन सब तत्त्वो का निर्णय करने में युक्ति असमर्थ है। इन सब प्रश्नो का उत्तर युक्ति कभी नही दे सकती। युक्ति क्या कहती है? वह कहती है, "मै अज्ञेयवादी हूँ। मै किसी विषय मे 'हाँ' भी नही कह सकती और 'ना' भी नही।" फिर भी इन सब प्रश्नो की मीमासा तो हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक है। इन प्रश्नो के ठीक-ठीक उत्तर बिना मानव-जीवन उद्देश्यविहीन हो जायगा। इस युक्तिरूप वृत्त के बाहर से प्राप्त हुए समाधान ही हमारे सारे नैतिक मत, सारे नैतिक भाव, यही नही, बल्कि मानव-स्वभाव मे जो कुछ सुन्दर तथा महान् है, उस सबकी नीव हैं। अतएव यह सबसे आवश्यक है कि हम इन प्रश्नो के यथार्थ उत्तर पा ले। यदि मनुष्य-जीवन केवल पाँच मिनट की चीज हो, और यदि जगत् कुछ परमाणुओ का आकस्मिक मिलन मात्र हो, तो फिर दूसरे का उपकार मैं क्यो करूँ? दया, न्यायपरता या सहानुभूति दुनिया में फिर क्यो रहे? तब तो हम लोगो का यही

एकमात्र कर्तव्य हो जाता है कि जिसकी जो इच्छा हो वही करे, सब अपना-अपना देखे। तब तो यही कहावत चरितार्थ होने लगती है—'यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्...।' यदि हम लोगों के भविष्य अस्तित्व की आशा ही न रहे, तो मैं अपने भाई को क्यों प्यार करूँ, मैं उसका गला क्यों न काटूँ? यदि जगत् के अतीत कोई सत्ता न रहे, यदि मुक्ति नामक कोई चीज न हो, यदि कुछ कठोर, अभेद्य, जड़ नियम ही सर्वस्व हो, तब तो हमें इहलोक में ही सुखी होने की प्राणपण से चेष्टा करनी चाहिए। आजकल बहुत से लोगों के मतानुसार उपयोगितावाद (utility) ही नीति की नींव है, अर्थात् जिससे अधिक लोगों को अधिक परिमाण में सुख-स्वाच्छन्द्य मिले, वही नीति की नींव है। इन लोगों से मैं पूछता हूँ, हम इस नींव पर खड़े होकर नीति का पालन क्यों करें? क्यों? यदि अधिक मनुष्यों का अधिक मात्रा में अनिष्ट करने से मेरा मतलब सधता हो, तो मैं वैसा क्यों न करूँ? उपयोगितावादी इस प्रश्न का क्या जवाब देंगे? कौन अच्छा है और कौन बुरा, यह तुम कैसे जानो? मैं अपनी सुख की वासना से परिचालित होकर उसकी तृप्ति करता हूँ, ऐसा करना मेरा स्वभाव है, मैं उससे अधिक कुछ नहीं जानता। मेरी ये वासनाएँ हैं, और मैं उनकी तृप्ति करूँगा ही; तुम्हें उसमें आपत्ति करने का क्या अधिकार है? मानव-जीवन के ये सब महान् सत्य, जैसे—नीति, आत्मा का अमरत्व, ईश्वर, प्रेम, सहानुभूति, साधुत्व और सर्वोपरि, सबसे महान् सत्य निःस्वार्थपरता—ये सब भाव हमें कहाँ से मिले हैं?

सारा नीतिशास्त्र, मनुष्य के सारे काम, मनुष्य के सारे विचार इस निःस्वार्थपरतारूप एकमात्र भाव (भित्ति) पर स्थापित

हैं। मानव-जीवन के सारे भाव इस नि स्वार्थपरतारूप एकमात्र भाव के अन्दर ढाले जा सकते है। मै क्यो स्वार्थशून्य होऊँ? नि स्वार्थ होने की आवश्यकता क्या? और किस शक्ति के बल से मैं नि स्वार्थ होऊँ? तुम कहते हो, "मैं युक्तिवादी हूँ, मैं उपयोगितावादी हूँ," लेकिन यदि तुम मुझे इसकी युक्ति न दिखला सको कि तुम जगत् का कल्याण-साधन क्यो करोगे, तो मैं तुम्हे अयौक्तिक कहूँगा। मै क्यो नि स्वार्थ होऊँ, कारण बताओ, क्यो न मै बुद्धिहीन पशु के समान आचरण करूँ? नि स्वार्थपरता कवित्व के हिसाब से अवश्य बहुत सुन्दर हो सकती है, किन्तु कवित्व तो युक्ति नही है। मुझे युक्ति दिखलाओ, मै क्यो नि स्वार्थपर होऊँ? क्यो मै भला बनूँ? यदि कहो, 'अमुक यह बात कहते हैं, इसलिए ऐसा करो'—तो यह कोई जवाब नही है, मै ऐसे किसी व्यक्तिविशेष की बात नही मानता। मेरे नि स्वार्थ होने से मेरा कल्याण कहाँ? यदि 'कल्याण' से अधिक परिमाण मे सुख समझा जाय, तब तो स्वार्थपर होने में ही मेरा कल्याण है। मै तो दूसरो को धोखा देकर और दूसरे का सर्वस्व चुराकर सबसे अधिक सुख पा सकता हूँ। उपयोगितावादी इसका क्या उत्तर देंगे? वे इसका कुछ भी उत्तर नही दे सकते। इसका यथार्थ उत्तर यह है कि यह परिदृश्यमान जगत् अनन्त समुद्र में एक छोटासा बुलबुला है—अनन्त जजीर की एक छोटीसी कडी है। जिन्होने जगत् में नि स्वार्थपरता का प्रचार किया था और मानव-जाति को उसकी शिक्षा दी थी, उन्होंने यह तत्त्व कहाँ से पाया? हम जानते हैं कि यह सहज ज्ञान द्वारा नही प्राप्त हो सकता। सहज ज्ञान से युक्त पशु तो इसे नही जानते। विचार-बुद्धि से भी यह नही मिल सकता—

उससे इन सब तत्त्वों का कुछ भी नही जाना जाता। तो फिर वे सब तत्त्व उन्होंने कहाँ से पाए ?

इतिहास के अध्ययन से मालूम होता है, ससार के सभी धर्म-शिक्षक तथा धर्म-प्रचारक कह गए है कि हमने ये सब सत्य जगत् के अतीत प्रदेश से पाए है। उनमे से बहुतेरे इस सम्बन्ध में अनभिज्ञ थे कि उन्होने यह सत्य ठीक कहाँ से पाया। किसी ने कहा, "एक स्वर्गीय दूत ने पखयुक्त मनुष्य के रूप मे मेरे पास आकर मुझसे कहा, 'हे मानव, सुनो, मै स्वर्ग से यह शुभ समाचार लाया हूँ, ग्रहण करो'।" एक दूसरे ने कहा, "तेजपुजकाय एक देवता ने मेरे सामने आविर्भूत होकर मुझे उपदेश दिया है।" एक तीसरे ने कहा, "मैंने स्वप्न मे अपने एक पूर्वज को देखा, उन्होंने मुझे इन तत्त्वो का उपदेश दिया।" इसके आगे वे और कुछ न कह सके। इस तरह विभिन्न उपायो से तत्त्वलाभ की बात कहने पर भी उन सबो का इस विषय में यही मत है कि उन्होने यह ज्ञान युक्ति-तर्क से नही पाया, वरन् उसके अतीत प्रदेश से ही उसे पाया है। इसके बारे मे योगशास्त्र का मत क्या है ? उसका मत यह है कि वे जो कहते है कि युक्ति-विचार के अतीत प्रदेश से उन्होने उस ज्ञान को पाया है, यह सही है; किन्तु उनके अपने अन्दर से ही वह ज्ञान उनके पास आया है।

योगीगण कहते है, इस मन की ही ऐसी एक उच्च अवस्था है, जो युक्ति-विचार के अधिकार के अतीत है, जो ज्ञानातीत भूमि है। उस उच्चावस्था में पहुँचने पर मनुष्य तर्क के अगम्य ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, और ऐसे मनुष्य को ही समस्त विषय-ज्ञान के अतीत परमार्थज्ञान या अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति होती है। साधारण मानवी स्वभाव के परे, समस्त तर्क-युक्ति के

परे की यह अतीन्द्रिय अवस्था कभी-कभी ऐसे व्यक्ति को अचानक प्राप्त हो जाती है, जो उसका विज्ञान नही जानता। वह मानो उस ज्ञानातीत राज्य मे ढकेल दिया जाता है। और जब उसे इस प्रकार अचानक अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति होती है, तो वह साधारणत सोचता है कि वह ज्ञान कही बाहर से आया है। इसी से यह स्पष्ट है कि यह पारमार्थिक ज्ञान सारे देशो में वस्तुत एक होने पर भी, किसी देश में वह देवदूत से, किसी देश में देवविशेष से, अथवा फिर कही साक्षात् भगवान से प्राप्त हुआ क्यो सुना जाता है। इसका तात्पर्य क्या है? यही कि मन ने अपनी प्रकृति के अनुसार ही अपने भीतर से उस ज्ञान को प्राप्त किया है, किन्तु जिन्होने उसे पाया है, उन्होंने अपनी-अपनी शिक्षा और विश्वास के अनुसार इस बात का वर्णन किया है कि उन्हे वह ज्ञान कैसे मिला। असल बात तो यह है कि ये सभी उस ज्ञानातीत अवस्था मे अचानक जा पडे थे।

योगीगण कहते है कि उस ज्ञानातीत अवस्था मे अचानक जा पडने से एक भारी धोखे की आशका रहती है। अनेक स्थलो मे तो मस्तिष्क के बिलकुल नष्ट हो जाने की सम्भावना रहती है। और भी देखोगे, जिन सब मनुष्यो ने अचानक इस अतीन्द्रिय ज्ञान को पाया है, पर उसके वैज्ञानिक तत्त्व को नहीं समझा, वे कितने भी बडे क्यो न हो, सच पूछा जाय तो उन्होंने अँधेरे में टटोला है, और उनके उस ज्ञान के साथ कुछ-न-कुछ विचित्र कुसस्कार मिला हुआ है ही। उन्होने अपने आपको भ्रामक दर्शनो के लिए खोल रखा था।

जो हो, हम कई महापुरुषो के जीवन-चरित का अध्ययन करने पर देखते है कि अचानक इन्द्रियातीत राज्य में जा पड़ने

से उपर्युक्त प्रकार के खतरे की आशका रहती है। किन्तु इसमें कोई सन्देह नही कि उन सबने उस अवस्था की प्राप्ति की थी। जब कभी कोई महापुरुष केवल भावुकता के बल से इस अतीन्द्रिय अवस्था मे जा पडे है, तो वे उस अवस्था से कुछ सत्य ही नही लाए, पर साथ ही कुसस्कार, कट्टरपन, ये सब भी लेते आए। उनकी शिक्षा मे जो उत्कृष्ट अश है, उससे जगत् का जैसा उपकार हुआ है, उन सब कट्टरता और अन्धविश्वासों से वैसे ही क्षति भी हुई है। मानव-जीवन नाना प्रकार के विपरीत भावो से ग्रस्त होने के कारण असामजस्यपूर्ण है। इस असामजस्य मे कुछ सामजस्य और सत्य प्राप्त करने के लिए हमें तर्क-युक्ति के अतीत जाना पडेगा। पर वह धीरे-धीरे करना होगा, नियमित साधना के द्वारा ठीक वैज्ञानिक उपाय से उसमें पहुँचना होगा, और सारे कुसस्कारो को भी हमे छोड देना होगा। अन्य कोई विज्ञान सीखने के समय जैसा हम लोग करते है, इसमे भी ठीक उसी धारा का अनुसरण करना होगा। युक्ति-विचार को ही अपनी नीव बनानी होगी। तर्क-युक्ति हमें जितनी दूर ले जा सकती है, उतनी दूर जायँगे और जब तर्क-युक्ति नही चलेगी, तब वही हमे उस सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति का रास्ता दिखला देगी। अत यदि कोई अपने को अनुप्राणित कहकर दावा करे, फिर साथ ही युक्ति के विरुद्ध भी अटपट बोलता रहे, तो उसकी बात मत सुनना। क्यो? इसलिए कि जिन तीन अवस्थाओ की बात कही गई है, जैसे—सहज ज्ञान, विचारजात ज्ञान और ज्ञानातीत अवस्था—ये तीनो एक ही मन की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। एक मनुष्य के तीन मन नही है, वरन् उस एक ही मन की एक अवस्था दूसरी अवस्थाओ मे परिवर्तित हो

जाती है। सहज ज्ञान विचारजात ज्ञान मे और विचारजात ज्ञान ज्ञानातीत अवस्था मे परिणत होता है। अत इन अवस्थाओ मे से कोई भी अवस्था दूसरी अवस्थाओ की विरोधी नही है। अतएव जब कभी तुम किसी को असम्बद्ध प्रलाप करते सुनो या युक्ति और सहज ज्ञान के विरुद्ध बाते कहते सुनो, तो निडर होकर उसका विरोध करना, क्योकि यथार्थ अन्त प्रेरणा विचारजनित ज्ञान की अपूर्णता की पूर्णता मात्र करती है। पूर्वकालीन महापुरुषो ने जैसा कहा है, 'हम विनाश करने नही आए, वरन् पूर्ण करने आए है,' इसी प्रकार अन्त प्रेरणा भी विचारजनित ज्ञान की पूर्णता की साधक है। विचारजनित ज्ञान के साथ उसका पूर्ण समन्वय है, और जब कभी वह युक्ति की विरोधी हो, तो समझना कि वह यथार्थ अन्त प्रेरणा नही है।

ठीक वैज्ञानिक उपाय से उपर्युक्त अतीन्द्रिय या समाधि-अवस्था प्राप्त करने के लिए ही पूर्वकथित सारे योगाग उपदिष्ट हुए हैं। यह भी समझ लेना विशेष आवश्यक है कि इस अतीन्द्रिय ज्ञान को प्राप्त करने की शक्ति प्राचीन महापुरुषो के समान प्रत्येक मनुष्य के स्वभाव में है। वे महापुरुषगण हम लोगो से कोई सर्वथा भिन्न स्वभाव के जीवविशेष नही थे, वे हमारे-तुम्हारे समान ही मनुष्य थे। वे अत्यन्त उच्च कोटि के योगी थे। उन्होने पूर्वोक्त ज्ञानातीत अवस्था प्राप्त कर ली थी, और प्रयत्न करने पर तुम और मैं भी उसकी प्राप्ति कर ले सकते है। वे कोई विशेष प्रकार के अद्भुत मनुष्य रहे हो, सो नही। यदि एक मनुष्य ने उस अवस्था की प्राप्ति की है, तो इसी से प्रमाणित होता है कि प्रत्येक मनुष्य के लिए ही इस अवस्था को प्राप्त करना सम्भव है। यह केवल सम्भव ही नही, वरन् समय आने पर

सभी इस अवस्था की प्राप्ति कर लेगे। इस अवस्था को प्राप्त करना ही धर्म है। केवल प्रत्यक्ष अनुभूति के द्वारा यथार्थ शिक्षा-लाभ होता है। हम लोग भले ही सारे जीवनभर तर्क-विचार करते रहे, पर स्वय प्रत्यक्ष अनुभव किए विना हम सत्य का कण मात्र भी न समझ सकेगे। कुछ पुस्तके पढाकर तुम किसी मनुष्य से अस्त्र-चिकित्सक बनने की आशा नही कर सकते। तुम केवल एक नक्शा दिखाकर देश देखने का मेरा कौतूहल पूरा नही कर सकते। स्वय वहाँ जाकर उस देश को प्रत्यक्ष देखने पर ही मेरा कौतूहल पूरा होगा। नक्शा केवल इतना कर सकता है कि वह देश के बारे मे और भी अधिक अच्छी तरह से जानने की इच्छा उत्पन्न कर देगा। बस इसके अतिरिक्त उसका और कोई मूल्य नही। सिर्फ पुस्तको पर निर्भर रहने से मानव-मन केवल अवनति की ओर जाता है। यह कहने से और घोर नास्तिकता क्या हो सकती है कि ईश्वरीय ज्ञान केवल इस पुस्तक में या उस शास्त्र मे आवद्ध है? मनुष्य इधर तो भगवान को अनन्त कहता है, और उधर एक छोटेसे ग्रन्थ में उन्हे आबद्ध कर रखना चाहता है!" क्या गर्व! पोथी पर विश्वास नही किया इसलिए लाखो आदमी मार डाले गए! एक ही ग्रन्थ में सारा ईश्वरीय ज्ञान निबद्ध है, इस पर विश्वास न करने से सहस्रो लोग मौत के घाट उतार दिए गए! भले ही आज उस हत्या आदि का समय नही रहा, पर फिर भी अभी तक जगत् इस ग्रन्थ-विश्वास मे ही आबद्ध है!

ठीक वैज्ञानिक उपाय से ज्ञानातीत अवस्था को प्राप्त करने के लिए, मै तुम्हें राजयोग के बारे में जो उपदेश दे रहा हूँ, उनमे से प्रत्येक की साधना मे से तुम्हे जाना पड़ेगा। पहले के

भाषण में प्रत्याहार और धारणा के सम्बन्ध में बताया गया है। अब ध्यान के बारे में चर्चा करूँगा।

देह के भीतर या उसके बाहर किसी स्थान में मन को कुछ समय तक स्थिर रखने की पुनः-पुनः चेष्टा करते रहने से, उसको उस दिशा में अविच्छिन्न गति से प्रवाहित होने की शक्ति प्राप्त होगी। इस अवस्था का नाम है ध्यान। जब ध्यानशक्ति इतनी तीव्र हो जाती है कि मन अनुभूति के बाहरी भाग को छोड़कर केवल उसके अन्तर्भाग या अर्थ की ही ओर सम्पूर्ण रूप में जाता है, तब उस अवस्था का नाम है समाधि। धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों को एक साथ लेने से संयम कहते हैं। अर्थात् यदि किसी का मन पहले किसी वस्तु में एकाग्र हो सकता है, फिर उस एकाग्रता की अवस्था में कुछ समय तक रह सकता है और उसके बाद ऐसी दीर्घ एकाग्रता की अवस्था में वह उस वस्तु के केवल आभ्यन्तरिक भाग पर, जिसका कि वह वस्तु बाह्य प्रकाश है, अपने आपको लगाए रख सकता है, तो सभी कुछ ऐसे संयमयुक्त मन के वशीभूत हो जाता है।

पास प्रकृति के ये विभिन्न परिवर्तन एक महासौन्दर्य और उदात्त भाव की छवि मात्र हैं।

इन तत्त्वो को ध्यान मे जान लेना आवश्यक है। मान लो, मैने एक शब्द सुना। पहले बाहर से एक कम्पन आया, उसके बाद स्नायविक गति उस कम्पन को मन के पास ले गई, फिर मन से एक प्रतिक्रिया हुई और उसके साथ ही साथ मुझे बाह्य वस्तु का ज्ञान हुआ। यह बाह्य वस्तु ही आकाशीय कम्पन से लेकर मानसिक प्रतिक्रिया तक सब भिन्न-भिन्न परिवर्तनो का कारण है। योगशास्त्र मे इन तीनो को क्रमश शब्द, अर्थ और ज्ञान कहते है। शारीरविधानशास्त्र की भाषा मे उन्हे आकाशीय कम्पन, स्नायु और मस्तिष्क मे की गति तथा मानसिक प्रतिक्रिया कहते है। ये तीनो प्रतिक्रियाएँ सम्पूर्ण अलग होने पर भी इस समय इस तरह मिली हुई हैं कि उनका भेद समझा नही जाता। हम यथार्थ मे अभी उन तीनो मे से किसी का भी अनुभव नही कर सकते, अभी तो उनके सम्मिलन के फलस्वरूप केवल बाह्य वस्तु का अनुभव करते है। प्रत्येक अनुभव-क्रिया में ये तीन व्यापार होते हैं। हम भला उन्हे अलग क्यो न कर सकेगे?

प्रथमोक्त योगागो के अभ्यास से मन जब दृढ और संयत हो जाता है तथा सूक्ष्मतर अनुभव की शक्ति प्राप्त करता है, तब उसे ध्यान मे लगाना चाहिए। पहले-पहल स्थूल वस्तु को लेकर ध्यान करना चाहिए। फिर क्रमश सूक्ष्म से सूक्ष्मतर ध्यान में हमारा अधिकार होगा, और अन्त में हम विषयशून्य अर्थात् निर्विकल्प ध्यान मे सफल हो जायँगे। मन को पहले अनुभूति के बाह्य कारण अर्थात् विषय का, फिर स्नायुओ में होनेवाली

गति का और उसके बाद उसकी अपनी प्रतिक्रियाओ का अनुभव करने के लिए नियुक्त करना होगा। जब मन अनुभूति के बाह्य उपकरणो अर्थात् विषयो को पृथक् रूप से जान सकेगा, तब उसमे समस्त सूक्ष्म भौतिक पदार्थो, सारे सूक्ष्म शरीरो और सूक्ष्म रूपो को जानने की शक्ति आ जायगी। जब वह भीतर मे होनेवाली गतियो को दूसरे सभी विषयो से अलग करके, उनके अपने स्वरूप में, जानने मे समर्थ होगा, तब वह सारी चित्त-वृत्तियो पर उनके भौतिक शक्ति के रूप मे परिणत होने से पूर्व ही अधिकार चला सकेगा,—फिर वे चित्तवृत्तियाँ चाहे स्वय अपनी हो, चाहे दूसरो की। और जब योगी केवल मानसिक प्रतिक्रिया का उसके अपने स्वरूप में अनुभव करने मे समर्थ होगे, तव वे सर्व पदार्थो का ज्ञान प्राप्त कर लेगे, क्योकि इन्द्रिय-गोचर प्रत्येक वस्तु, यहाँ तक कि प्रत्येक विचार भी, इस मानसिक प्रतिक्रिया का ही फल है। ऐसी अवस्था प्राप्त होने पर योगी अपने मन की मानो नीव तक का अनुभव कर लेते हैं, और तब मन उनके सम्पूर्ण वश में आ जाता है। योगी के पास तब नाना प्रकार की अलौकिक शक्तियाँ (सिद्धियाँ) आने लगती है, पर यदि वे इन सब शक्तियो को प्राप्त करने के लिए लालायित हो उठे, तो उनकी भविष्य उन्नति का रास्ता रुक जाता है। भोग के पीछे दौडने से इतना अनर्थ होता है! किन्तु यदि वे इन सब अलौकिक शक्तियो को भी छोड सके, तो वे मनरूप समुद्र-मे उठनेवाले समस्त वृत्ति-प्रवाहो को पूर्णतया रोकने में समर्थ हो सकेगे। और यही योग का चरम लक्ष्य है। तभी, मन के नाना प्रकार के विक्षेप एव नाना प्रकार की दैहिक गतियो से विचलित न होकर आत्मा की महिमा अपनी पूर्ण ज्योति से

प्रकाशित होगी। तब योगी ज्ञानघन, अविनाशी और सर्वव्यापी रूप से अपने स्वरूप को उपलब्धि करेंगे, और जान लेंगे कि वे अनादि काल से ऐसे ही है।

इस समाधि मे प्रत्येक मनुष्य का, यही नही, प्रत्येक प्राणी का अधिकार है। सबसे निम्नतर प्राणी से लेकर अत्यन्त उन्नत देवता तक सभी, कभी-न-कभी, इस अवस्था को अवश्य प्राप्त करेंगे, और जब किसी को यह अवस्था प्राप्त हो जायगी, तभी हम कहेंगे कि उसने यथार्थ धर्म की प्राप्ति की है। तो फिर हम इस समय जो कर रहे है, ये सब क्या है ? इनके सहारे हम उस अवस्था की ओर लगातार अग्रसर हो रहे हैं। जो धर्म नहीं मानता, उसमें और हममे अभी कोई विशेष अन्तर नही। कारण, अतीन्द्रिय तत्त्वो के बारे में हमारी कोई प्रत्यक्ष अनुभूति नही है। इस एकाग्रता की साधना का उद्देश्य है प्रत्यक्षानुभूति प्राप्त करना। इस समाधि को प्राप्त करने के प्रत्येक अग पर गम्भीर रूप से विचार किया गया है, उसे विशेष रूप से नियमित, श्रेणी-बद्ध और वैज्ञानिक प्रणाली मे सम्बद्ध किया गया है। यदि साधना ठीक-ठीक हो और पूर्ण निष्ठा के साथ की जाय, तो वह अवश्य हमे यथार्थ लक्ष्यस्थल पर पहुँचा देगी। और तब सारे दु ख-कष्ट नष्ट हो जायँगे, कर्म का बीज दग्ध हो जायगा और आत्मा चिरकाल के लिए मुक्त हो जायगी।

अष्टम अध्याय

संक्षेप में राजयोग

(कूर्मपुराण, एकादश अध्याय से उद्धृत ।)

योगाग्नि मनुष्य के पाप-पिंजर को दग्ध कर देती है। तब सत्त्वशुद्धि होती है और साक्षात् निर्वाण की प्राप्ति होती है। योग से ज्ञानलाभ होता है, ज्ञान फिर योगी की मुक्ति के पथ का सहायक है। जिनमे योग और ज्ञान दोनो ही वर्तमान है, ईश्वर उनके प्रति प्रसन्न होते है। जो लोग प्रतिदिन एक बार, दो बार, तीन बार या सारे समय महायोग का अभ्यास करते है, उन्हे देवता समझना चाहिए। योग दो प्रकार के है, जैसे—अभावयोग और महायोग। जब शून्य तथा सब प्रकार के गुण से रहित रूप से अपना चिन्तन किया जाता है, तब उसे अभावयोग कहते है। और जिस योग के द्वारा आत्मा का आनन्दपूर्ण, पवित्र और ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप से चिन्तन किया जाता है, उसे महायोग कहते है। योगी इनमे से प्रत्येक के द्वारा ही आत्म-साक्षात्कार कर लेते है। हम दूसरे जिन योगो के बारे मे शास्त्रों में पढते या सुनते हैं, वे सब योग इस ब्रह्मयोग के—जिस ब्रह्मयोग मे योगी अपने को तथा सारे जगत् को साक्षात् भगवत्-स्वरूप देखते हैं—एक अंश के बराबर भी नही हो सकते। यही सारे योगो में श्रेष्ठ है।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये राजयोग के विभिन्न अंग या सोपान है। यम का अर्थ है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इस यम से चित्तशुद्धि होती है। शरीर, मन और वचन के द्वारा

कभी किसी प्राणी की हिंसा न करना या उन्हे क्लेश न देना—यह अहिंसा कहलाता है। अहिंसा से बढकर और धर्म नही। मनुष्य के लिए जीव के प्रति यह अहिंसा-भाव रखने से अधिक और कोई उच्चतर सुख नही है। सत्य से सब कुछ मिलता है, सत्य में सब कुछ प्रतिष्ठित है। यथार्थ कथन को ही सत्य कहते है। चोरी से या बलपूर्वक दूसरे की चीज को न लेने का नाम है अस्तेय। तन-मन-वचन से सर्वदा सब अवस्थाओ मे मैथुन का त्याग ही ब्रह्मचर्य है। अत्यन्त कष्ट के समय मे भी किसी मनुष्य से कोई उपहार ग्रहण न करने को अपरिग्रह कहते हैं। अपरिग्रह-साधना का उद्देश्य यह है कि किसी से कुछ लेने से हृदय अपवित्र हो जाता है, लेनेवाला हीन हो जाता है, वह अपनी स्वतत्रता खो बैठता है और बद्ध एव आसक्त हो जाता है।

तप, स्वाध्याय, सन्तोष, शौच और ईश्वरप्रणिधान—इन्हे नियम कहते हैं। नियम शब्द का अर्थ है नियमित अभ्यास और व्रत-परिपालन। व्रतोपवास या अन्य उपायो से देह-सयम करना शारीरिक तपस्या कहलाता है। वेद-पाठ या दूसरे किसी मन्त्रोच्चारण को सत्त्वशुद्धिकर स्वाध्याय कहते है। मन्त्र जपने के लिए तीन प्रकार के नियम है—वाचिक, उपाशु और मानस। वाचिक से उपाशु जप श्रेष्ठ है और उपाशु से मानस जप। जो जप इतने ऊँचे स्वर से किया जाता है कि सभी सुन सकते हैं, उसे वाचिक जप कहते हैं। जिस जप मे ओठो का स्पन्दन मात्र होता है, पर पास रहनेवाला कोई मनुष्य सुन नही सकता, उसे उपाशु कहते है। और जिसमें किसी शब्द का उच्चारण नही होता, केवल मन-ही-मन जप किया जाता है और उसके साथ उस मन्त्र का अर्थ स्मरण किया जाता है, उसे मानसिक जप कहते

है। यह मानसिक जप ही सबसे श्रेष्ठ है। ऋषियों ने कहा है—शौच दो प्रकार के है, बाह्य और आभ्यन्तर। मिट्टी, जल या दूसरी वस्तुओ से शरीर को शुद्ध करना बाह्य शौच कहलाता है, जैसे—स्नानादि। सत्य एव अन्यान्य धर्मो के पालन से मन की शुद्धि को आभ्यन्तर शौच कहते है। बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही शुद्धि आवश्यक है। केवल भीतर मे पवित्र रहकर बाहर मे अशुचि रहने से शौच पूरा नही हुआ। जब कभी दोनो प्रकार के शौच का अनुष्ठान करना सम्भव न हो, तब आभ्यन्तर शौच का अवलम्बन ही श्रेयस्कर है। पर ये दोनो शौच हुए बिना कोई भी योगी नही बन सकता। ईश्वर की स्तुति, स्मरण और पूजा-अर्चनारूप भक्ति का नाम ईश्वरप्रणिधान है।

यह तो यम और नियम के बारे मे हुआ। उसके बाद है आसन। आसन के बारे में इतना ही समझ लेना चाहिए कि वक्ष स्थल, ग्रीवा और सिर को सीधे रखकर शरीर को स्वच्छन्द भाव से रखना होगा। अब प्राणायाम के बारे मे कहा जायगा। प्राण का अर्थ है अपने शरीर के भीतर रहनेवाली जीवनी-शक्ति, और आयाम का अर्थ है उसका सयम। प्राणायाम तीन प्रकार के है—अधम, मध्यम और उत्तम। वह तीन भागो मे विभक्त हैं, जैसे—पूरक, कुम्भक और रेचक। जिस प्राणायाम में १२ सेकण्ड तक वायु का पूरण किया जाता है, उसे अधम प्राणायाम कहते हैं। २४ सेकण्ड तक वायु का पूरण करने से मध्यम प्राणायाम, और ३६ सेकण्ड तक वायु का पूरण करने से उत्तम प्राणायाम कहते हैं। अधम प्राणायाम से पसीना, मध्यम प्राणायाम से कम्पन और उत्तम प्राणायाम से उच्छ्वास अर्थात् शरीर का हल्कापन एव चित्त की प्रसन्नता होती है। गायत्री वेद का पवित्रतम मन्त्र

है। उसका अर्थ है, "हम इस जगत् के जन्मदाता परम देवता के तेज का ध्यान करते है, वे हमारी बुद्धि मे ज्ञान का विकास कर दे।" इस मन्त्र के आदि और अन्त मे प्रणव लगा हुआ है। एक प्राणायाम मे गायत्री का तीन बार मन-ही-मन उच्चारण करना पड़ता है। प्रत्येक शास्त्र मे कहा गया है कि प्राणायाम तीन अशो मे विभक्त है—जैसे, रेचक अर्थात् श्वास-त्याग, पूरक अर्थात् श्वास-ग्रहण और कुम्भक अर्थात् स्थिति—भीतर मे धारण करना। अनुभवशक्तियुक्त इन्द्रियाँ लगातार बहिर्मुखी होकर काम कर रही हैं और बाहर की वस्तुओ के सम्पर्क मे आ रही है। उनको अपने वश मे लाने को प्रत्याहार कहते है। अपनी ओर खीचना या आहरण करना—यही प्रत्याहार शब्द का प्रकृत अर्थ है।

हृत्कमल मे या सिर के ठीक मध्य देश में या शरीर के अन्य किसी स्थान मे मन को धारण करने का नाम है धारणा। मन को एक स्थान मे सलग्न करके, फिर उस एकमात्र स्थान को अवलम्बनस्वरूप मानकर एक विशिष्ट प्रकार के वृत्ति-प्रवाह उठाए जाते हैं, दूसरे प्रकार के वृति-प्रवाहो से उनको बचाने का प्रयत्न करते-करते वे प्रथमोक्त वृत्ति-प्रवाह क्रमश प्रबल आकार धारण कर लेते है, और ये दूसरे वृत्ति-प्रवाह कम होते-होते अन्त मे बिलकुल चले जाते हैं। फिर बाद मे उन प्रथमोक्त वृत्तियो का भी नाश हो जाता है और केवल एक वृत्ति वर्तमान रह जाती है। इसे 'ध्यान' कहते है। और जब इस अवलम्बन की भी कोई आवश्यकता नही रह जाती, सम्पूर्ण मन जब एक तरग के रूप मे परिणत हो जाता है, तब मन की इस एकरूपता का नाम है समाधि। तब किसी विशेष प्रदेश या चक्रविशेष का

अवलम्बन करके ध्यान-प्रवाह उत्थापित नही होता, केवल ध्येय वस्तु का भाव (अर्थ) मात्र अवशिष्ट रहता है। यदि मन को किसी स्थान में १२ सेकण्ड धारण किया जाय, तो उससे एक धारणा होगी, यह धारणा द्वादश गुणित होने पर एक ध्यान, और यह ध्यान द्वादश गुणित होने पर एक समाधि होगी।

सूखे पत्तो से ढकी हुई जमीन पर, चौराहे पर, अत्यन्त कोलाहलपूर्ण या डरावने स्थान मे, दीमक के ढेर के समीप, अथवा जहाँ अग्नि या जल से किसी भय की आशका हो, जहाँ जगली जानवर हो, जो स्थान दुष्ट लोगो से भरा हो—ऐसे स्थानो मे योग की साधना करना उचित नही। यह व्यवस्था विशेषकर भारत के बारे मे लागू होती है। जब शरीर अत्यन्त आलसी या बीमार मालूम होता हो अथवा जब मन अत्यन्त दु.खपूर्ण रहता हो, तब भी साधना नही करनी चाहिए। किसी गुप्त और निर्जन स्थान मे जाकर साधना करो, जहाँ लोग तुम्हे बाधा पहुँचाने न आ सके। अपवित्र जगह मे बैठकर साधना मत करना, वरन् सुन्दर दृश्यवाले स्थान मे या अपने घर की एक सुन्दर कोठरी में बैठकर साधना करना। साधना मे प्रवृत्त होने के पहले समस्त प्राचीन योगियो, अपने गुरुदेव तथा भगवान को प्रणाम करना और फिर साधना मे प्रवृत्त होना।

ध्यान का विषय पहले ही कहा जा चुका है। अब ध्यान की कुछ प्रणालियाँ वर्णित की जाती हैं। सीधे बैठकर अपनी नाक के ऊपरी भाग पर दृष्टि रखो। तुम देखोगे कि उससे मन की स्थिरता में विशेष रूप से सहायता मिलती है। आँख के दो स्नायुओ को वश में लाने से प्रतिक्रिया के केन्द्रस्थल को काफी वश में लाया जा सकता है,

अत॰ उससे इच्छाशक्ति भी बहुत अधीन हो जाती है। अब ध्यान के कुछ प्रकार कहे जाते हैं। सोचो, सिर के ऊर्ध्व देश मे एक कमल है, धर्म उसका मूलदेश है, ज्ञान उसकी नाल है, योगी की अष्टसिद्धियाँ उस कमल के आठ दलो के समान है और वैराग्य उसके अन्दर की कर्णिका है। जो योगी अष्टसिद्धियाँ आने पर भी उनको छोड सकते है, वे ही मुक्ति प्राप्त करते हैं,। इसीलिए अष्टसिद्धियो का बाहर के आठ दलों के रूप मे, तथा अन्दर की कर्णिका का परवैराग्य अर्थात् अष्टसिद्धियाँ आने पर भी उनके प्रति वैराग्य के रूप मे वर्णन किया गया है। इस कमल के अन्दर हिरण्मय, सर्वशक्तिमान्, अस्पर्श्य, ओंकारवाच्य, अव्यक्त, किरणो से परिव्याप्त परमज्योति का चिन्तन करो। उस पर ध्यान करो।

और एक प्रकार के ध्यान का विषय बताया जाता है— सोचो कि तुम्हारे हृदय में एक आकाश है, और उस आकाश के अन्दर अग्निशिखा के समान एक ज्योति उद्भासित हो रही है—उस ज्योतिशिखा का अपनी आत्मा के रूप में चिन्तन करो, फिर उस ज्योति के अन्दर और एक ज्योतिर्मय आकाश की भावना करो; वही तुम्हारी आत्मा की आत्मा है—परमात्म-स्वरूप ईश्वर है। हृदय में उसका ध्यान करो। ब्रह्मचर्य, अहिंसा, महाशत्रु को भी क्षमा कर देना, सत्य, आस्तिक्य—ये सब विभिन्न व्रत हैं। यदि इन सबमें तुम सिद्ध न रहो, तो भी दु खित या भयभीत मत होना। प्रयत्न करो, धीरे-धीरे सब हो जायगा। विषय की लालसा, भय और क्रोध छोडकर जो भगवान के शरणागत हुए हैं, उनमें तन्मय हो गए हैं, जिनका हृदय पवित्र हो गया है, वे भगवान के पास जो कुछ चाहते हैं, भगवान उसी

समय उसकी पूर्ति कर देते है। अत ज्ञान, भक्ति या वैराग्य योग से उनकी उपासना करो।

"जो किसी की हिंसा नही करते, जो सबके मित्र हैं, जो सबके प्रति करुणासम्पन्न है, जिनका अहकार चला गया है, जो सदैव सन्तुष्ट है, जो सर्वदा योगयुक्त, यतात्मा और दृढ निश्चय-वाले हैं, जिनका मन और बुद्धि मुझमे अर्पित हो गई है, वे ही मेरे प्रिय भक्त हैं। जिनसे लोग उद्विग्न नही होते, जो लोगो से उद्विग्न नही होते, जिन्होने अतिरिक्त हर्ष, दु ख, भय और उद्वेग त्याग दिया है, ऐसे भक्त ही मेरे प्रिय हैं। जो किसी का भरोसा नही करते, जो शुचि और दक्ष है, सुख और दु ख मे उदासीन है, जिनका दु ख चला गया है, जो निन्दा और स्तुति मे समभावापन्न हैं, मौनी है, जो कुछ पाते हैं, उसी मे सन्तुष्ट रहते है, जिनका कोई निर्दिष्ट घर-बार नही, सारा जगत् ही जिनका घर है, जिनकी बुद्धि स्थिर है, ऐसे व्यक्ति ही मेरे प्रिय भक्त है।"† ऐसे व्यक्ति ही योगी हो सकते हैं।

* * * *

नारद नाम के एक पहुँचे हुए ऋषि थे। जैसे मनुष्यो में ऋषि या बडे-बडे योगी रहते हैं, वैसे ही देवताओ में भी बडे-बडे योगी है। नारद भी वैसे ही एक महायोगी थे। वे सर्वत्र भ्रमण किया करते थे। एक दिन एक वन मे से जाते हुए उन्होने देखा कि एक मनुष्य ध्यान कर रहा है। वह ध्यान में इतना मग्न है और इतने दिनो से एक ही आसन पर बैठा है कि उसके चारों ओर दीमक का ढेर लग गया है। उसने नारद से पूछा, "प्रभो, आप कहाँ जा रहे है?" नारदजी ने उत्तर दिया, "मै वैकुण्ठ

† गीता, १२।१३-१९

जा रहा हूँ।" तब उसने कहा, "अच्छा, आप भगवानसे पूछते आएँ, वे मुझ पर कब कृपा करेंगे, मैं कब मुक्ति प्राप्त करूँगा।" फिर कुछ दूर और जाने पर नारदजी ने एक दूसरे मनुष्य को देखा। वह कूद-फाँद रहा था, कभी नाचता था तो कभी गाता था। उसने भी नारदजी से वही प्रश्न किया। उस व्यक्ति का कण्ठस्वर, वाग्भगी आदि सभी उन्मत्त के समान थे। नारदजी ने उसे भी पहले के समान उत्तर दिया। वह बोला, "अच्छा, तो भगवान से पूछते आएँ, मैं कब मुक्त होऊँगा।" लौटते समय नारदजी ने दीमक के ढेर के अन्दर रहनेवाले उस ध्यानस्थ योगी को देखा। उस योगी ने पूछा, "देवर्षे, क्या आपने मेरी बात पूछी थी?" नारदजी बोले, "हाँ, पूछी थी।" योगी ने पूछा, "तो उन्होंने क्या कहा?" नारदजी ने उत्तर दिया, "भगवान ने कहा, 'मुझको पाने के लिए उसे और चार जन्म लगेंगे।'" तब तो वह योगी घोर विलाप करते हुए कहने लगा, "मैंने इतना ध्यान किया है कि मेरे चारो ओर दीमक का ढेर लग गया, फिर भी मुझे और चार जन्म लेने पडेंगे!" नारदजी तब दूसरे व्यक्ति के पास गए। उसने भी पूछा, "क्या आपने मेरी बात भगवान से पूछी थी?" नारदजी बोले, "हाँ, भगवान ने कहा है, 'उसके सामने जो इमली का पेड है, उसके जितने पत्ते है, उतनी बार उसको जन्म ग्रहण करना पडेगा।'" यह बात सुनकर वह व्यक्ति आनन्द से नृत्य करने लगा और बोला, "मैं इतने कम समय में मुक्ति प्राप्त करूँगा!" तब एक दैववाणी हुई "वत्स, तुम इसी क्षण मुक्ति प्राप्त करोगे।" वह दूसरा व्यक्ति इतना अध्यवसायसम्पन्न था! इसीलिए उसे वह पुरस्कार मिला। वह इतने जन्म साधना करने के लिए तैयार था। कुछ

भी उसे उद्योगशून्य न कर सका। परन्तु वह प्रथमोक्त व्यक्ति चार जन्मो की ही बात सुनकर घबडा गया। जो व्यक्ति मुक्ति के लिए सैंकडो युग तक बाट जोहने को तैयार था, उसके समान अध्यवसायसम्पन्न होने पर ही उच्चतम फल प्राप्त होता है।

पातंजल-योगसूत्र

(मूल संस्कृत सूत्र, सूत्रार्थ और व्याख्या सहित)

व्याख्याकार

स्वामी विवेकानन्द

पातंजल-योगसूत्र

उपक्रमणिका

योगसूत्रो को हाथ में लेने से पहले मैं एक ऐसे प्रश्न की मीमांसा करने का प्रयत्न करूँगा, जिस पर योगियों के सारे धार्मिक मत प्रतिष्ठित हैं। ऐसा मालूम पडता है कि संसार के सभी श्रेष्ठ मनीषियो का इस बात में एकमत है— और यह बात भौतिक प्रकृति के अनुसन्धान से भी एक प्रकार से प्रमाणित ही हो गई है— कि हम लोग अपने वर्तमान सविशेष (सापेक्ष) भाव के पीछे विद्यमान एक निर्विशेष (निरपेक्ष) भाव के बाहरी प्रकाश एवं व्यक्त रूप हैं, और हम फिर से उसी निर्विशेष भाव मे लौटने के लिए लगातार अग्रसर हो रहे है। यदि यह बात स्वीकार कर ली जाय, तो प्रश्न यह उठता है कि वह निर्विशेष अवस्था श्रेष्ठतर है अथवा यह वर्तमान अवस्था ? संसार मे ऐसे लोगो की कमी नही, जो समझते हैं कि यह व्यक्त अवस्था ही मनुष्य की सबसे ऊँची अवस्था है। कई चिन्तन-शील मनीषियो का मत है कि हम एक निर्विशेष सत्ता के व्यक्त रूप हैं, और यह सविशेष अवस्था निर्विशेष अवस्था से श्रेष्ठ है। वे सोचते है कि निर्विशेष सत्ता मे कोई गुण नही रह सकता, अत वह अवश्य अचेतन है, जड है, प्राणशून्य है, और यह सोचकर वे धारणा कर लेते हैं कि केवल इस जीवन मे ही सुख-भोग सम्भव है, अतएव इस जीवन के सुख में ही हमें आसक्त रहना चाहिए। अब हम पहले देखे, इस जीवन-समस्या के और कौन-कौन से समाधान है, पहले उनके बारे मे चर्चा की जाय। इस सम्बन्ध में एक प्राचीन सिद्धान्त यह था कि मनुष्य मरने के

वाद, जैसा पहले था वैसा ही रहता है, केवल उसके सारे अशुभ चले जाते है और उनके स्थान पर उसका जो कुछ अच्छा है, वही अनन्त काल के लिए वच रहता है। यदि तर्कसगत भाषा में इस सत्य को रखा जाय, तो वह ऐसा रूप लेता है—यह जगत् ही मनुष्य की चरम गति है और इस जगत् की ही कुछ उच्चावस्था को, जहाँ उसके सारे अशुभ निकल जाते हैं और केवल शुभ-ही-शुभ वच रहता है, स्वर्ग कहते है। यही पूर्वोक्त मतावलम्बियो का चरम लक्ष्य है। यह वडी आसानी से समझा जा सकता है कि यह मत नितान्त असगत और वच्चो की वात के समान है, क्योकि ऐसा हो ही नही सकता। ऐसा कभी नही हो सकता कि भला है, पर वुरा नही है, अथवा वुरा है, पर भला नही। जहाँ कुछ भी वुरा नही है, सव भला-ही-भला है, ऐसे जगत् में वास करने की कल्पना, भारतीय नैयायिको के अनुसार, दिवा-स्वप्न देखना है। फिर, एक और मतवाद आजकल के वहुत से सम्प्रदायो से सुना जाता है, वह यह कि मनुष्य लगातार उन्नति कर रहा है, चरम लक्ष्य तक पहुँचने की सतत कोशिश कर रहा है, किन्तु कभी भी वहाँ तक पहुँच न सकेगा। यह मत ऊपर से सुनने में तो वडा युक्तिसगत मालूम होता है, पर यह भी वस्तुत विलकुल असगत ही है, क्योकि कोई भी गति एक सरल रेखा में नही होती। प्रत्येक गति वर्तुलाकार मे ही होती है। यदि तुम एक पत्थर लेकर आकाश मे फेको, उसके वाद यदि तुम्हारा जीवन काफी हो और पत्थर के मार्ग में कोई वाधा न आए, तो घूमकर वह ठीक तुम्हारे हाथ में वापस आ जायगा। यदि एक सरल रेखा अनन्त दूरी तक फैला दी जाय, तो वह अन्त मे एक वृत्त का रूप धारण कर लेगी। अतएव यह मत कि

मनुष्य की गति सदैव अनन्त उन्नति की ओर है—उसका कही भी अन्त नही, सर्वथा असगत है। प्रसग के थोडा वाहर होने पर भी मैं अब इस पूर्वोक्त मत के वारे में दो-एक वाते कहूँगा। नीतिशास्त्र कहते है, किसी के भी प्रति घृणा मत करो—सवको प्यार करो। नीतिशास्त्र के इस सत्य का स्पष्टीकरण पूर्वोक्त मत से हो जाता है। जैसे विद्युत्-शक्ति के वारे मे आधुनिक मत यह है कि वह विद्युदाधार (dynamo) से वाहर निकल, घूमकर फिर से उसी यन्त्र मे लौट आती है, यहाँ भी ठीक वैसा ही है। प्रकृति की समस्त शक्तियो के वारे मे यह नियम लागू होता है। सभी शक्तियाँ, घूम-फिरकर, जिस स्थान से निकली थी ठीक वही वापस आ जायँगी। अतएव किसी से घृणा करना उचित नही, क्योंकि यह शक्ति—यह घृणा, जो तुममें से वहिर्गत होगी, घूमकर कालान्तर मे फिर तुम्हारे ही पास वापस आ जायगी। यदि तुम मनुष्यो को प्यार करो, तो वह प्यार घूम-फिरकर तुम्हारे पास ही लौट आयगा। यह सोलहो आने सत्य है कि मनुष्य के मन से घृणा की जो कुछ मात्रा वाहर निकलती है, वह अन्त में उसी के पास लौट आकर अपनी पूरी शक्ति से उस पर आक्रमण करती है। कोई भी इसकी गति रोक नही सकता। प्यार के वारे मे भी ऐसा ही है। हम और भी अन्यान्य प्रत्यक्ष वातो पर आधारित वहुतसी युक्तियों से यह प्रमाणित कर सकते है कि यह अनन्त उन्नति सम्वन्धी मत ठहर नही सकता। हम तो यह प्रत्यक्ष देखते हैं कि सारी भौतिक वस्तुओ की एक ही अन्तिम गति है, और वह है विनाश। अतएव अनन्त उन्नतिवाला मत किसी भी प्रकार टिक नही सकता। हमारे ये सारे सघर्ष, सारी आशाएँ, भय और सुख—

इन सबका आखिर परिणाम क्या है ? मृत्यु ही हम सबकी चरम गति है। इससे अधिक ठहरी हुई बात और कुछ भी नही हो सकती। तब फिर यह सरल रेखा मे गति कहाँ रही ? यह अनन्त उन्नति कहाँ रही ? यह तो केवल थोडी दूर जाना है और फिर से उस केन्द्र मे लौट आना है, जहाँ से गति शुरु होती है। देखो, नीहारिका (nebulae) से किस प्रकार सूर्य, चन्द्रमा और तारे पैदा होते हैं, और फिर से उसी मे समा जाते हैं। ऐसा ही सर्वत्र हो रहा है। पेड-पौधे मिट्टी से ही सार ग्रहण करते हैं और सड-गलकर फिर से मिट्टी मे ही मिल जाते है। इस ससार में जितने भी रूपवान पदार्थ है, सब अपने चारो ओर वर्तमान परमाणुओ से पैदा होकर फिर से उन परमाणुओ मे ही मिल जाते हैं।

यह कभी हो नही सकता कि एक ही नियम अलग-अलग स्थानो में अलग-अलग रूप से कार्य करे। नियम सर्वत्र ही समान है। इससे अधिक निश्चित बात और कुछ नही हो सकती। यदि यही प्रकृति का नियम हो, तो वह अन्तर्जगत् पर क्यो नही लागू होगा ? मन भी अपने उत्पत्ति-स्थान में जाकर लय को प्राप्त करेगा। हम चाहे या न चाहे, हमे अपने उस आदि कारण में लौट ही जाना पडेगा, जिसे ईश्वर या निरपेक्ष सत्ता कहते हैं। हम ईश्वर से आए हैं, और पुन ईश्वर में ही लौट जायेंगे। इस ईश्वर को फिर किसी भी नाम से क्यो न पुकारो—गॉड (God) कहो, निरपेक्ष सत्ता कहो, प्रकृति कहो अथवा अन्य किसी भी नाम से क्यो न सम्बोधित करो—सब एक ही बात है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'*—'जिनसे सब पैदा हुए हैं, जिनमें उत्पन्न हुए

* तैत्तिरीय उपनिषद् ३।१

समस्त प्राणी स्थित है और जिनमे सब फिर से लौट जायेंगे।' इससे अधिक निश्चित बात और कुछ भी नही हो सकती। प्रकृति सर्वत्र एक ही नियम से कार्य करती है। एक लोक मे जो नियम कार्य करता है, दूसरे लाखो लोकों मे भी वह नियम कार्य करेगा। ग्रहो मे जो व्यापार देखने में आता है, इस पृथ्वी, मनुष्यमात्र और सब नक्षत्रों मे भी वही व्यापार चल रहा है। एक बडी लहर लाखो छोटी-छोटी लहरो से बनी होती है। उसी प्रकार सारे जगत् का जीवन लाखो छोटे-छोटे जीवनों की एक समष्टि मात्र है; और इन सब लाखो छोटे-छोटे जीवों की मृत्यु ही जगत् की मृत्यु है।

अब प्रश्न उठता है कि इस भगवान मे वापस जाना उच्चतर अवस्था है या निम्नतर? योगमतावलम्बी दार्शनिक-गण इस बात के उत्तर मे दृढतापूर्वक कहते है, 'हाँ, वह उच्चतर अवस्था है।' वे कहते हैं कि मनुष्य की वर्तमान अवस्था एक अवनत अवस्था है। इस धरती पर ऐसा कोई धर्म नही, जो कहता हो कि मनुष्य पहले की अपेक्षा आज अधिक उन्नत अवस्था मे है। (इसका भाव यह है कि मनुष्य प्रारम्भ मे शुद्ध और पूर्ण रहता है, फिर उसकी अवनति होने लगती है और एक अवस्था ऐसी आ जाती है, जिसके नीचे वह और नही जा सकता। तब वह पुन. अपना वृत पूरा करने के लिए ऊपर उठने लगता है। उसे वृत्त की पूर्ति करनी ही पड़ती है। वह कितने भी नीचे क्यो न चला जाय, अन्त में उसे वृत का ऊपरी मोड लेना ही पडता है—अपने आदिकारण भगवान मे वापस आना ही पडता है। मनुष्य पहले भगवान से आता है, मध्य मे वह मनुष्य के रूप मे रहता है और अन्त मे पुन. भगवान के पास वापस

चला जाता है।) यह हुई द्वैतवाद की भाषा। अद्वैतवाद की भाषा मे यह भाव व्यक्त करने पर कहना पडेगा कि मनुष्य भगवान है, और घूमकर फिर उन्ही मे लौट जाता है। यदि हमारी वर्तमान अवस्था ही उच्चतर अवस्था हो, तो ससार मे इतने दु ख-कष्ट, इतनी सब भयावह घटनाएँ क्यो भरी पडी हैं? यदि यही उच्चतर अवस्था हो, तो इसका अवसान क्यों होता है? जिसमे विकार और पतन होता हो, वह कभी भी सबसे ऊँची अवस्था नही हो सकती। यह जगत् इतने पैशाचिक भावो से क्यो भरा हो—वह इतना अतृप्तिकर क्यो हो? इसके पक्ष में बहुत हुआ तो इतना ही कहा जा सकता है कि इसमें से होकर हम एक उच्चतर रास्ते में जा रहे है, पुन उन्नत-स्वभाव होने के लिए हमें इसमे से होकर जाना ही पडता है। जमीन में बीज बो दो, वह गलकर—विश्लिष्ट होकर कुछ समय बाद मिट्टी के साथ बिलकुल मिल जायगा, फिर उसी विश्लिष्ट अवस्था से एक महाकाय वृक्ष उत्पन्न होगा। इस महाकाय वृक्ष के उत्पन्न होने के लिए प्रत्येक बीज को सडना पडेगा। उसी प्रकार ब्रह्मभावापन्न होने के लिए—ब्रह्मस्वरूप हो जाने के लिए प्रत्येक जीवात्मा को इस अवनति की अवस्था मे से होकर जाना पडेगा। अतएव यह स्पष्ट है कि हम जितनी जल्दी इस 'मानव'-सज्ञक अवस्थाविशेष का अतिक्रमण कर उसके ऊपर चले जायँ, उतना ही हमारा कल्याण है। तो क्या आत्म-हत्या करके हमें इस अवस्था के बाहर होना होगा? नही, कभी नही। वरन् उससे तो उलटा ही फल होगा। शरीर को व्यर्थ में कष्ट देना अथवा ससार को वृथा कोसना इस ससार से तरने का उपाय नही है। उसके लिए तो हमे इस नैराश्य के पकिल सरोवर में

से होकर जाना पडेगा, और जितनी जल्दी हम उसे पार कर जायँ, उतना ही मगल है। पर यह सदैव स्मरण रहे कि हमारी यह वर्तमान अवस्था ही सबसे ऊँची अवस्था नही है।

यहाँ यह बात समझना सचमुच कठिन है कि जिस निर्विशेष अवस्था को सबसे ऊँची अवस्था कही जाती है, वह, जैसा कि बहुतसे लोग शका करते है, पत्थर या अर्धजन्तु-अर्धवृक्ष-वत् कोई जीवविशेष के समान नही है। जो लोग ऐसा सोचते हैं, उनके मत से संसार भर के सारे अस्तित्व केवल दो भागो मे विभक्त है—एक तो वह, जो पत्थर आदि के समान जड की अवस्था है, और दूसरा वह, जो विचार या चिन्तन की अवस्था है। किन्तु हम उनसे पूछते है कि सारे अस्तित्व को इन दो ही भागो मे सीमित कर देने का उन्हे क्या अधिकार है? क्या विचार से अनन्तगुनी अधिक ऊँची और कोई अवस्था नही है? आलोक का कम्पन अत्यन्त मृदु होने पर वह हमे दृष्टिगोचर नही होता। जब वह कम्पन अपेक्षाकृत कुछ तीव्र होता है, तब वह हमारी दृष्टि का विषय हो जाता है—तब हमारी आँखों के सामने वह आलोक के रूप मे दीख पडता है। पर जब वह और भी तीव्र हो जाता है, तब हम पुन उसे नही देख पाते। वह हमे अन्धकार के समान ही प्रतीत होता है। तो क्या यह बाद का अन्धकार उस पहले अन्धकार के समान है? नही, कभी नही, उन दोनो मे तो दो ध्रुवो का—जमीन-आसमान का—अन्तर है। क्या पत्थर की विचारशून्यता और भगवान की विचारशून्यता दोनो एक है? बिलकुल नही। भगवान सोचते नही—वे विचार करते नही। वे भला करेंगे भी क्यो? उनके लिए क्या कुछ अज्ञात है, जो वे विचार करेंगे? पत्थर विचार कर सकता नही,

और ईश्वर विचार करते नही — बस यही अन्तर है। ये पूर्वोक्त दार्शनिकगण सोचते है कि विचार से राज्य के वाहर जाना अत्यन्त भयानक वात है। वे विचार के अतीत कुछ भी नही पाते।

युक्ति के राज्य के उस पार वहुतसी उच्चतर अवस्थाएँ है। वास्तव में धर्म-जीवन की पहली अवस्था तो वुद्धि की सीमा लाँघने पर शुरू होती है। जव तुम विचार, वुद्धि, युक्ति—इन सवके परे चले जाते हो, तभी तुमने भगवत्प्राप्ति के पथ में पहला कदम रखा है। वही जीवन का सच्चा प्रारम्भ है। जिसे हम साधारणत जीवन कहते है, वह तो असल जीवन की भ्रूण-अवस्था मात्र है।

अव प्रश्न हो सकता है कि विचार और युक्ति के अतीत की अवस्था ही सवसे ऊँची अवस्था है, इसका क्या प्रमाण? पहले तो, ससार के श्रेष्ठ महापुरुषगण—कोरी लम्वी-चौडी हाँकने-वालो की अपेक्षा कही श्रेष्ठ महापुरुषगण, जिन्होने अपनी शक्ति के बल से सम्पूर्ण जगत् को हिला दिया था, जिनके हृदय में स्वार्थ का लेश मात्र न था, जगत् के सामने घोषणा कर गए हैं कि हमारा यह जीवन उस सर्वातीत अनन्तस्वरूप मे पहुँचने के लिए रास्ते मे केवल एक सराय के समान है। दूसरे, उन्होंने केवल मुखसे ऐसा कहा हो, सो नही, वरन् उन्होने सभी को वहाँ जाने का रास्ता वतला दिया है, अपनी साधन-प्रणाली सभी को समझा दी है, जिससे सव लोग उनका पदानुसरण कर आगे वढ सके। तीसरे, पहले जो व्याख्या दी गई है, उसके छोड जीवन-समस्या की और किसी प्रकार से सन्तोषजनक व्याख्या नही दी जा सकती। यदि मान लिया जाय कि इसकी अपेक्षा उच्चतर अवस्था और कोई नही है, तो भला हम लोग चिरकाल इस चक्र के भीतर से क्यो जा रहे है? किस युक्ति के आधार पर

इस दृश्यमान जगत् की व्याख्या की जाय ? यदि हममे इससे अधिक दूर जाने की शक्ति न रहे, यदि हमारे लिए इसकी अपेक्षा कुछ अधिक चाहने को न रहे, तब तो यह पचेन्द्रिय-ग्राह्य जगत् ही हमारे ज्ञान की चरम सीमा रह जायगा। इसी को अज्ञेयवाद कहते हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि इन इन्द्रियो की गवाही मे विश्वास करने के लिए भला हमारे पास कौनसी युक्ति है ? मै तो उन्ही को यथार्थ अज्ञेयवादी कहूँगा, जो रास्ते मे चुप खडे रहकर मर सकते हैं। यदि युक्ति ही हमारा सर्वस्व हो, तो वह तो हमें इस शून्यवाद को लेकर ससार मे स्थिर होकर कही रहने न देगी। यदि कोई धन और नाम-यश की स्पृहा के छोड शेष सभी विषयो के सम्बन्ध मे आस्थाहीन हो, तो वह केवल पाखण्डी है। कॅन्ट (Kant) ने नि सदिग्ध रूप से प्रमाणित किया है कि हम युक्तिरूपी दुर्भेद्य दीवार का अतिक्रमण कर उसके उस पार नही जा सकते। किन्तु भारत मे तो समस्त विचारधाराओ की पहली बात है—युक्ति के उस पार चले जाना। योगीगण अत्यन्त साहस के साथ इस राज्य की खोज में प्रवृत्त होते है, और अन्त में ऐसी एक अवस्था को प्राप्त करने मे सफल होते हैं, जो समस्त युक्ति-विचार के परे है और केवल जिसमे ही हमारी वर्तमान परिदृश्यमान अवस्था का स्पष्टीकरण मिलता है। यही लाभ है उसके अध्ययन से, जो हमें जगत् के अतीत ले जाता है। "तुम हमारे पिता हो, तुम हमें अज्ञान के उस पार ले जाओगे॥" "त्वं हि न. पिता, योऽस्माकमविद्याया. पर पार तारयसि॥"* यही धर्मविज्ञान है। इसके अतिरिक्त और कुछ भी यथार्थ धर्मविज्ञान नाम के योग्य नही हो सकता।

---

* प्रश्नोपनिषद्, ६।८

पातंजल-योगसूत्र

प्रथम अध्याय

समाधिपाद

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—अब योग की व्याख्या करते हैं ।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

सूत्रार्थ—चित्त को विभिन्न वृत्तियो अर्थात् आकार में परिणत होने से रोकना ही योग है ।

व्याख्या—यहाँ बहुतसी बाते समझाने की आवश्यकता है। पहले हमें यह समझ लेना होगा कि यह चित्त और ये वृत्तियाँ क्या हैं। मेरी ये आँखें हैं। आँखें वास्तव मे नही देखती। यदि मस्तिष्क में स्थित दर्शनेन्द्रिय या दर्शनशक्ति को नष्ट कर दो, तो भले ही तुम्हारी आँखे रहे, आँखो की पुतलियाँ भी साबूत रहे और आँख के ऊपर जिस छवि के पडने से दर्शन होता है, वह भी रहे, पर फिर भी आँखें देख न सकेगी। अत. आँख दर्शन का गौण यन्त्र मात्र हुई। वह वास्तव में दर्शनेन्द्रिय नही है। दर्शनेन्द्रिय तो मस्तिष्क के अन्तर्गत स्नायु-केन्द्र मे अवस्थित है। अतएव हमने देखा कि दर्शन-क्रिया के लिए केवल दो आँखें ही पर्याप्त नही हैं। कभी-कभी मनुष्य आँखे खुली रखकर सो जाता है। वस्तु का चित्र आँखो पर बना हुआ है, दर्शनेन्द्रिय भी है, पर और एक तीसरी वस्तु की आवश्यकता है—और वह है मन। मन को इन्द्रिय के साथ सयुक्त रहना चाहिए। अत. दर्शन-क्रिया के लिए चक्षुरूप बहिर्यन्त्र, मस्तिष्क में स्थित स्नायु-केन्द्र और मन—ये तीन

चीजे चाहिए। कभी-कभी ऐसा होता है कि रास्ते से गाडियाँ दौड़ती हुई निकल जाती है, पर तुम उन्हे सुन नही पाते। क्यो? इसलिए कि तुम्हारा मन श्रवणेन्द्रिय के साथ सयुक्त नही रहता। अतएव, प्रत्येक अनुभव-क्रिया के लिए पहले तो बाहर का यन्त्र, उसके बाद इन्द्रिय, और तृतीयत, इन दोनो के साथ मन का योग चाहिए। मन, विषय के अभिघात से उत्पन्न हुई सवेदना को और भी अन्दर ले जाकर निश्चयात्मिका बुद्धि के सामने पेश करता है। तब बुद्धि से प्रतिक्रिया होती है। इस प्रतिक्रिया के साथ अह-भाव जाग उठता है। फिर क्रिया और प्रतिक्रिया का यह मिश्रण पुरुष अर्थात् प्रकृत आत्मा के सामने लाया जाता है। तब वे पुरुष इस मिश्रण को एक (ससीम) वस्तु के रूप में अनुभव करते हैं। पाँचो इन्द्रिय, मन, निश्चयात्मिका बुद्धि और अहकार को मिलाकर अन्त करण कहते हैं। ये सब मन के उपादान स्वरूप चित्त के भीतर होनेवाली भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएँ हैं। चित्त में उठनेवाली विचार-तरगों को वृत्ति (भँवर) कहते हैं। अब प्रश्न यह है कि यह विचार है क्या चीज? गुरुत्वाकर्पण या विकर्षण शक्ति के समान विचार भी एक शक्ति है। प्रकृति के अक्षय शक्ति-भडार से चित्त नामक करण कुछ शक्ति को ग्रहण कर लेता है, अपने में भिदा लेता है और उसे विचार के रूप मे बाहर भेजता है। यह शक्ति हमे खाद्यान्न के जरिये प्राप्त होती है और इस खाद्यान्न से शरीर गति आदि की शक्ति प्राप्त करता है। दूसरी अर्थात् सूक्ष्मतर शक्तियो को वह विचार के रूप में बाहर भेजता है। अतएव मन चेतन नही है, फिर भी वह चेतन-सा प्रतीत होता है। क्यों? इसलिए कि चेतन आत्मा उसके पीछे है। तुम ही एकमात्र चेतन पुरुष

हो—मन तो केवल एक करण अर्थात् यन्त्र मात्र है, जिसके द्वारा तुम वाह्य जगत् की उपलब्धि करते हो। इस पुस्तक की ही वात लो, वाहर मे इसका पुस्तकरूपी अस्तित्व नही है। वाहर मे वस्तुत जो है, वह तो अज्ञात और अज्ञेय है। वह केवल स्फूर्ति (सकेत) देनेवाला कारण मात्र है। जैसे पानी में एक पत्थर फेंकने पर पानी प्रवाहाकार में वॅटकर उस पत्थर पर प्रतिघात करता है, ठीक वैसे ही वह अज्ञात वस्तु जाकर मन मे आघात प्रदान करती है, और मन से पुस्तक के रूप में एक प्रतिक्रिया होती है। यथार्थ वहिर्जगत् तो स्फूर्ति देनेवाला कारण मात्र है, जिससे मानसिक प्रतिक्रिया होती है। एक पुस्तक का रूप, हाथी का रूप या मनुष्य का रूप वाहर में कोई अस्तित्व नही रखता, हम जो कुछ जानते हैं, वह वाहर की स्फूर्ति से होनेवाली हमारी मानसिक प्रतिक्रया मात्र है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने कहा है, "अनुभव की नित्य सम्भाव्यता का नाम जड पदार्थ है।" वाहर मे जो है, वह है केवल इस प्रतिक्रिया को उत्पन्न करनेवाली स्फूर्ति मात्र। उदाहरणार्थ, मोती की एक सीप को लो। तुम लोग जानते हो, मोती किस तरह पैदा होता है। वालुका का एक कण * या अन्य कोई चीज सीप मे घुस जाती है और उसमें क्षोभ उत्पन्न करने लगती है। इससे वह सीप उस वालुका-कण के चारो ओर 'एनामेल' के समान एक प्रकार का लेप-सा डालने लगती है। वस उसी से मोती तैयार होता है। यह सारा अनुभवात्मक जगत् मानो हमारे अपने उस लेप के समान है,

---

* वैज्ञानिको के मतानुसार, लोगो में प्रचलित वालुका-कण से मोती की उत्पत्ति सम्बन्धी विश्वास की कोई दृढ भित्ति नही है, सम्भवत क्षुद्र कीटाणुविशेष (Parasites) से मोती की उत्पत्ति होती है।

और यथार्थ जगत् मानो वह बालुका-कण है। सामान्य मनुष्य उसे कभी समझ न सकेगा, क्योकि जब कभी वह उसे समझने की कोशिश करता है, त्योही वह बाहर मे मानो अपना लेप डालने लगता है, और बस अपने उस लेप को ही देखता है। अब हम समझे कि वृत्ति का सच्चा अर्थ क्या है। मनुष्य का जो असल स्वरूप है, वह मन के अतीत है। मन तो उसके हाथो एक यन्त्रस्वरूप है। उसी का चैतन्य इस मन के भीतर मे से होकर आ रहा है। जब तुम इस मन के पीछे द्रष्टा-रूप से अवस्थित रहते हो, तभी वह चैतन्यमय होता है। जब मनुष्य इस मन को बिलकुल त्याग देता है, तो उस मन का सम्पूर्ण नाश हो जाता है, उसका अस्तित्व ही नही रह जाता। अब समझ मे आया कि चित्त का क्या तात्पर्य है। वह मन का उपादान-स्वरूप है, और वृत्तियाँ उस पर उठनेवाली लहरे और तरगे है। जब बाहर के कुछ कारण उस पर कार्य करने लगते है, त्योही वह तरग-रूप धारण कर लेता है। हम जिसे जगत् कहते हैं, वह तो इन वृत्तियो की समष्टि मात्र है।

हम लोग सरोवर की तली को नही देख सकते, क्योकि उसकी सतह छोटी-छोटी लहरो से व्याप्त रहती है। उस तली की झलक मिलना तभी सम्भव है, जब ये सारी लहरे शान्त हो जायँ और पानी स्थिर हो जाय। यदि पानी गँदला हो, या सारे समय उसमे हलचल होती रहे, तो वह तली कभी दिखाई न देगी। पर यदि पानी निर्मल हो और उसमें एक भी लहर न रहे, तब हम उस तली को अवश्य देख सकेगे। यह चित्त मानो उस सरोवर के समान है और हमारा असल स्वरूप मानो उसकी तली है, वृत्तियाँ उस पर उठनेवाली लहरे है। फिर यह भी

देखा जाता है कि यह मन तीन प्रकार की अवस्थाओ में रहता है। एक है तम की अर्थात् अन्धकारमय अवस्था, जैसा कि हम पशुओ और अत्यन्त मूर्खों में पाते हैं। ऐसे मन की प्रवृत्ति केवल औरो को अनिष्ट पहुँचाने में ही होती है; मन की इस अवस्था में और दूसरा कोई विचार ही नही सूझता। दूसरा है—रज अर्थात् मन की क्रियाशील अवस्था, जिसमे केवल प्रभुत्व और भोग की इच्छा रहती है। उस समय यही भाव रहता है कि मै शक्तिमान होऊँगा और दूसरो पर प्रभुत्व करूँगा। तीसरा है—सत्त्व अर्थात् मन की गम्भीर और शान्त अवस्था, जिसमें समस्त तरगे शान्त हो जाती हैं और मानस-सरोवर का जल निर्मल हो जाता है। यह कोई जडावस्था नही है, प्रत्युत यह तो तीव्र क्रियाशील अवस्था है। शान्त होना शक्ति की महत्तम अभिव्यक्ति है। क्रियाशील होना तो सहज है। बस लगाम ढीली कर दो, तो घोडे स्वय तुम्हे भगा ले जायँगे। यह तो कोई भी कर सकता है, पर शक्तिमान पुरुष तो वह है, जो इन तेज घोडो को थाम सके। किसमें अधिक शक्ति लगती है—लगाम ढीली कर देने में अथवा उसे थामे रखने मे? शान्त मनुष्य और आलसी मनुष्य एक समान नही हैं। सत्त्व को कहीं आलस्य न समझ बैठना। शान्त मनुष्य वह है, जो मन की इन लहरो को अपने वश में लाने मे समर्थ हुआ है। क्रियाशीलता निम्नतर शक्ति का प्रकाश है और शान्तभाव उच्चतर शक्ति का।

यह चित्त अपनी स्वाभाविक पवित्र अवस्था को फिर से प्राप्त करने के लिए सतत चेष्टा कर रहा है, किन्तु इन्द्रियाँ उसे बाहर खीचे रखती है। उसका दमन करना, उसकी इस बाहर जाने की प्रवृत्ति को रोकना और उसे लौटाकर उस चैतन्यघन पुरुष के

पास ले जानेवाले रास्ते पर लाना—यही योग का पहला सोपान है; क्योकि केवल इसी उपाय से चित्त अपने यथार्थ रास्ते पर आ सकता है।

यद्यपि उच्चतम से लेकर निम्नतम तक सभी प्राणियो में यह चित्त विद्यमान है, तथापि केवल मनुष्य-शरीर मे ही हम उसे बुद्धि-रूप मे विकसित देख पाते है। जब तक यह चित्त बुद्धि का रूप धारण नही कर लेता, तब तक उसके लिए इन सब विभिन्न सोपानो में से होते हुए लौटकर आत्मा को मुक्त करना सम्भव नही। यद्यपि गाय या कुत्ते के भी मन है पर उनके लिए सद्योमुक्ति असम्भव है, क्योकि उनका चित्त अभी बुद्धि का रूप धारण नही कर सकता।

यह चित्त अवस्था-भेद से बहुत से रूप धारण करता है जैसे—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त और एकाग्र (विवेकख्याति या प्रसख्यान) *। मन इन चार प्रकार की अवस्थाओ मे चार प्रकार के रूप धारण करता है। पहला है क्षिप्त, जिसमें मन चारो ओर बिखर जाता है और कर्मवासना प्रबल रहती है। इस अवस्था मे मन की प्रवृत्ति केवल सुख और दु ख इन दो भावो मे ही प्रकाशित होने की होती है। उसके बाद है मूढ अवस्था। यह अवस्था तमोगुणात्मक है और इसमे मन की प्रवृत्ति केवल औरो का अनिष्ट करने में होती है। विक्षिप्त अवस्था वह है, जब मन अपने केन्द्र की ओर जाने का प्रयत्न करता है। यहाँ पर टीकाकार कहते हैं कि विक्षिप्त अवस्था देवताओ के लिए स्वाभाविक है और मूढावस्था असुरों के लिए। एकाग्र चित्त ही हमे समाधि मे ले जाता है।

---

* यहाँ निरुद्ध (धर्ममेघ या परप्रसख्यान) अवस्था की बात नही कही गई, क्योकि वास्तव में निरुद्धावस्था को चित्तवृत्ति नही कही जा सकती।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—उस समय (अर्थात् इस निरोध की अवस्था में) द्रष्टा (पुरुष) अपने (अपरिवर्तनशील) स्वरूप में अवस्थित रहते हैं ।

व्याख्या—ज्योंही लहरें शान्त हो जाती हैं और पानी स्थिर हो जाता है, त्योंही हम सरोवर की तली को देख पाते हैं। मन के बारे मे भी ठीक ऐसा ही समझो। जब यह शान्त हो जाता है, तब हम देख पाते है कि अपना असल स्वरूप क्या है, फिर हम उन तरगो के साथ अपने आपको एकरूप नही कर लेते, वरन् अपने स्वरूप मे अवस्थित रहते है।

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥४॥

सूत्रार्थ—(इस निरोध की अवस्था को छोड़कर) दूसरे समय में द्रष्टा वृत्ति के साथ एकरूप होकर रहते हैं ।

व्याख्या—उदाहरणार्थ, मान लो किसी ने मेरी निन्दा की। बस वह मेरे मन मे एक वृत्ति उठा देता है और मैं उसके साथ अपने आपको एकरूप कर देता हूँ। इसका परिणाम होता है—दु ख ।

वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाः ॥५॥

सूत्रार्थ—वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं—(कुछ) क्लेशयुक्त और (कुछ) क्लेशशून्य ।

प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः ॥६॥

सूत्रार्थ—(वे हैं)प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—अर्थात् सत्यज्ञान, भ्रमज्ञान, शब्द-भ्रम, निद्रा और स्मृति ।

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥७॥

सूत्रार्थ—प्रत्यक्ष अर्थात् साक्षात् अनुभव, अनुमान और आगम अर्थात् विश्वस्त लोगो के वाक्य—(ये तीन) प्रमाण हैं ।

व्याख्या—जब हमारी दो अनुभूतियाँ आपस में विरोधी नही होती, तब उसे हम प्रमाण कहते है। मान लो, मैंने कुछ सुना, यदि वह पहले अनुभव की हुई किसी बात का खण्डन करे, तो मेरे भीतर उसके विरुद्ध तर्क-वितर्क होने लगते है और मैं उस पर विश्वास नही करता। प्रमाण के फिर तीन प्रकार है। साक्षात् अनुभव या प्रत्यक्ष—यह एक प्रकार का प्रमाण है। यदि हम किसी प्रकार आँख और कान के भ्रम मे न पड़े हो, तो हम जो कुछ देखते या अनुभव करते हैं, उसे प्रत्यक्ष कहा जायगा। मैं इस दुनिया को देखता हूँ, बस यह उसके अस्तित्व का पर्याप्त प्रमाण है। दूसरा है अनुमान—लक्षण से लक्ष्य वस्तु पर आना। तुमने कोई सकेत देखा और उससे तुम उस वस्तु पर आ गए, जिसका कि वह सकेत है। तीसरा है आप्तवाक्य—योगियो अर्थात् सत्यद्रष्टा ऋषियो की प्रत्यक्ष अनुभूति। हम सभी ज्ञान की प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्न कर रहे है, पर तुम्हें और मुझे उसके लिए कडी चेष्टा करनी पडती है, दीर्घकाल तक विचाररूप अरुचिकर रास्ते से होकर अग्रसर होना पडता है; किन्तु विशुद्धसत्त्व योगी इन सबके पार चले गए हैं। उनके मनश्चक्षु के सामने भूत, भविष्य और वर्तमान सब एक हो गए है, उनके लिए वे सब मानो एक पाठ्य पुस्तक के समान है। हम लोगो को ज्ञान-लाभ के लिए जिस अरुचिकर प्रणाली में से होकर जाना पड़ता है, उनके लिए उसकी फिर और आवश्यकता नही रह जाती। उनका वाक्य ही प्रमाण है, क्योकि वे अपने भीतर ही सारे ज्ञान की उपलब्धि करते है। वे सर्वज्ञ पुरुष है। ऐसे व्यक्ति ही पवित्र शास्त्रग्रन्थो के प्रणेता है, और इसीलिए शास्त्र प्रमाण-रूप से ग्राह्य है। यदि वर्तमान समय में

ऐसे मनुष्य कोई हो, तो उनकी बात भी अवश्य प्रमाण-रूप से ग्राह्य होगी। दूसरे दार्शनिको ने इस आप्त के बारे मे बहुत से तर्क-वितर्क किए है। उनका प्रश्न है कि आप्तवाक्य को सत्य क्यो माना जाय ? इसका उत्तर यह है कि वह उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति है। मान लो, तुमने या मैंने कोई बात देखी। यदि वह पहले किए हुए अनुभव की विरोधी न हो, तो वह प्रमाण-रूप से ग्राह्य होती है। ठीक इसी तरह उसका भी प्रामाण्य समझना चाहिए। इन्द्रियो के भी अतीत एक ज्ञान है, और जब कभी यह ज्ञान युक्ति और मनुष्य की पूर्व-अनुभूति का खण्डन नही करता, तव उसे प्रमाण कहते हैं। यदि कोई पागल इस कमरे में घुस आए और कहने लगे,'मैं सब ओर देवता देख रहा हूँ,' तो वह प्रमाण न कहा जायगा। पहले तो, वह ज्ञान सत्य होना चाहिए। दूसरे, वह पहले के किसी ज्ञान का खण्डन न करे। और तीसरे, वह उस मनुष्य के चरित्र-बल पर आधारित हो। मैंने बहुतो को यह कहते सुना है कि मनुष्य का चरित्र उतने महत्त्व का नही है, जितना कि उसके शब्द, वह क्या कहता है, बस उसी को पहले सुनो। अन्य विषयो के सम्बन्ध मे यह बात भले ही सत्य हो, पर धर्म के सम्बन्ध में तो यह सम्भव नही। एक व्यक्ति दुष्ट स्वभाववाला होता हुआ भी ज्योतिप के वारे में कुछ आविष्कार कर सकता है, पर धर्म के वारे मे बात अलग है, क्योकि कोई भी अपवित्र मनुष्य धर्म के यथार्थ सत्य को किसी काल में प्राप्त नही कर सकता। अतएव, सबसे पहले हमे देखना होगा कि जो व्यक्ति अपने आपको आप्त कहकर ढिढोरा पीटता है, वह पूर्णतया नि स्वार्थ और पवित्र है अथवा नही। दूसरे, उसने अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति की है या नही। तीसरे, वह जो

कुछ कहता है, वह मनुष्य-जाति के किसी पूर्व-ज्ञान या पूर्व-अनुभव का खण्डन तो नही करता। आविष्कृत कोई भी नया सत्य पूर्व-कालीन किसी सत्य का खण्डन नही करता, वरन् वह तो पूर्व सत्य के साथ पूरी तरह मेल खाता है। और चौथे, दूसरो के लिए उस सत्य की प्राप्ति करना सम्भव होना चाहिये। यदि कोई मनुष्य कहे कि मुझे एक दर्शन हुआ है और साथ ही यह भी बोले कि उसे मै ही देख सकता हूँ—और किसी के वश की वह बात नही, तो मै उसकी बात पर विश्वास नही करता। प्रत्येक मनुष्य स्वय प्रत्यक्ष उपलब्धि करके यह देख सके कि वह सत्य है या नही। फिर, जो व्यक्ति अपना ज्ञान बेचता फिरता है, वह आप्त नही है। ये सब शर्तें अवश्य पूरी होनी चाहिए। तुम्हे पहले देखना होगा कि वह व्यक्ति पवित्र और नि स्वार्थ है, उसमे रुपया-कौडी या नाम-यश की तृष्णा नही। दूसरे, उसके जीवन से यह प्रकट होना चाहिए कि वह ज्ञानातीत भूमि पर पहुँच गया है। तीसरे, उसे हम लोगो को ऐसा कुछ देना चाहिए, जो हम इन्द्रियो से न पा सकते हो और जो ससार के कल्याण के लिए हो। साथ ही, वह किसी दूसरे सत्य का खण्डन न करे; यदि वह दूसरे वैज्ञानिक सत्यो का खण्डन करता हो, तो उसे तुरन्त त्याग दो। और चौथे, वह व्यक्ति किसी सत्य की ठेकेदारी न करे, अर्थात् वह ऐसा न कहे कि इस सत्य में मेरा ही अधिकार है, किसी दूसरे का नही। वह अपने जीवन मे उसी को कार्यरूप मे परिणत करके दिखाए, जो दूसरो के लिए भी प्राप्त करना सम्भव हो। अतएव, प्रमाण तीन प्रकार के हुए—प्रत्यक्ष अर्थात् इन्द्रियो द्वारा विषयो की अनुभूति, अनुमान और आप्तवाक्य। मै इस 'आप्त' शब्द का अँगरेजी में अनुवाद नही

कर सकता। इसे 'अनुप्राणित' (inspired) शब्द द्वारा व्यक्त नही किया जा सकता, क्योकि यह अनुप्राणन बाहर से आता है, और यहाँ जिस भाव की बात हो रही है, वह भीतर से आता है। इसका शाब्दिक अर्थ है—"जिन्होने पाया है"।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥८॥

सूत्रार्थ—विपर्यय का अर्थ है मिथ्याज्ञान, जो उस वस्तु के यथार्थ स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं है। (इसके तीन प्रकार हैं—सशय, विपर्यय और तर्क।)

व्याख्या—दूसरे प्रकार की वृत्ति है—एक वस्तु में किसी दूसरे वस्तु की भ्रान्ति, जैसे शुक्ति मे रजत का भ्रम। इसे विपर्यय कहते है।

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥९॥

सूत्रार्थ—यदि किसी शब्द से सूचित वस्तु का अस्तित्व न रहे, तो उस शब्द से जो एक प्रकार का ज्ञान उठता है, उसे विकल्प अर्थात् शब्द-जात भ्रम कहते हैं। (इसके तीन प्रकार हैं—वस्तु, क्रिया व अभाव।)

व्याख्या—विकल्प नामक और एक प्रकार की वृत्ति है। कोई बात हम सुनते है, और उसके अर्थ पर शान्तभाव से विचार न कर झट से एक सिद्धान्त कर बैठते है। यह चित्त की कमजोरी का लक्षण है। अब सयमवाद अच्छी तरह समझ मे आ सकेगा। मनुष्य जितना कमजोर होता है, उसकी सयम की शक्ति उतनी ही कम रहती है। तुम अपने आपको सदा इस सयम की कसौटी पर कसो। जब तुममे क्रोध या दुखित होने का भाव आए, तो उस समय विचार करके देखना कि यह कैसे हो रहा है, यह कैसे है कि कोई खबर तुम्हारे पास आते ही तुम्हारे मन को वृत्तियो मे परिणत किए दे रही है।

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥१०॥

सूत्रार्थ—जो वृत्ति शून्यभाव का अवलम्बन करके रहती है, उसे निद्रा कहते है।

व्याख्या—और एक प्रकार की वृत्ति का नाम है निद्रा (स्वप्न और सुषुप्ति)। हम जब जाग उठते है, तब हम जान पाते है कि हम सो रहे थे। केवल अनुभूत विषय की ही स्मृति हो सकती है। हम जिसका अनुभव नही करते, उस विषय की हमे कोई स्मृति नही आ सकती। हर एक प्रतिक्रिया मानो चित्तरूपी सरोवर की एक तरग है। अब, यदि निद्रा मे मन की किसी प्रकार की वृत्ति न रहती, तो उस अवस्था मे हमें भावात्मक या अभावात्मक कोई भी अनुभूति न होती। अतः हम उसका स्मरण भी नही कर पाते। हम जो निद्रावस्था का स्मरण कर सकते है, उसी से यह प्रमाणित हो जाता है कि निद्रावस्था मे मन मे एक प्रकार की तरग थी। स्मृति भी एक प्रकार की वृत्ति है।

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ॥११॥

सूत्रार्थ—अनुभव किए हुए विषयों का मन से लोप न होना (और संस्कारवश उनका ज्ञान के स्तर पर आ उठना) स्मृति कहलाता है। (इसके दो प्रकार हैं—भावित और अनुद्भावित।)

व्याख्या—ऊपर मे जिन चार प्रकार की वृत्तियो के बारे मे कहा गया है, उनमे से प्रत्येक से स्मृति आ सकती है। मान लो, तुमने एक शब्द सुना। यह शब्द चित्तरूपी सरोवर मे फेके गए एक पत्थर के समान है, उससे एक छोटीसी लहर पैदा हो जाती है और यह लहर फिर बहुतसी छोटी-छोटी लहरो को उत्पन्न करती है। यही स्मृति है। निद्रा मे भी यही घटना होती रहती

है। जब निद्रा नामक लहरविशेष चित्त के अन्दर स्मृतिरूप अनेक लहरे उत्पन्न कर देती है, तब उसे स्वप्न कहते है। जाग्रत् अवस्था मे जिसे स्मृति कहते है, निद्राकाल मे उसी प्रकार की वृत्ति को स्वप्न कहते हैं।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥१२॥

सूत्रार्थ—अभ्यास और वैराग्य से उन (वृत्तियो) का निरोध होता है।

व्याख्या—इस वैराग्य को प्राप्त करने के लिए यह विशेष रूप से आवश्यक है कि मन निर्मल, सत् और विचारपूर्ण हो। अभ्यास करने की क्या आवश्यकता है? प्रत्येक कार्य सरोवर के वक्षस्थल पर काँपते हुए प्रवाह के समान है। प्रत्येक कार्य से मानो चित्तरूपी सरोवर के ऊपर एक तरग खेल जाती है। यह कम्पन कुछ समय बाद नष्ट हो जाता है। फिर क्या शेष रहता है?—केवल सस्कारसमूह। मन मे ऐसे बहुतसे सस्कार पडने पर वे इकट्ठे होकर अभ्यास के रूप में परिणत हो जाते है। ऐसा कहा जाता है कि "अभ्यास ही द्वितीय स्वभाव है।" केवल द्वितीय स्वभाव नही, वरन् वह 'प्रथम' स्वभाव भी है—मनुष्य का समस्त स्वभाव इस अभ्यास पर निर्भर रहता है। हमारा अभी जो स्वभाव है, वह पूर्व अभ्यास का फल है। यह जान सकने से कि सब कुछ अभ्यास का ही फल है, मन में शान्ति आती है, क्योकि यदि हमारा वर्तमान स्वभाव केवल अभ्यासवश हुआ हो, तो हम चाहे तो किसी भी समय उस अभ्यास को नष्ट भी कर सकते है। हमारे मन मे जो विचार-धाराएँ बह जाती हैं, उनमें से प्रत्येक अपना एक एक चिह्न छोड़ जाती है। उन्ही की समष्टि को सस्कार कहते हैं।

हमारा चरित्र इन सब सस्कारो की समष्टिस्वरूप है। जब कोई विशेष वृत्ति-प्रवाह प्रबल होता है, तब मनुष्य उसी प्रकार का हो जाता है। जब सद्गुण प्रबल होता है, तब मनुष्य सत् हो जाता है। यदि खराब भाव प्रबल हो, तो मनुष्य खराब हो जाता है। यदि आनन्द का भाव प्रबल हो, तो मनुष्य सुखी होता है। असत् अभ्यास का एकमात्र प्रतिकार है—उसका विपरीत अभ्यास। हमारे चित्त में जितने असत् अभ्यास सस्कार-बद्ध हो गए है, उन्हे सत् अभ्यास द्वारा नष्ट करना होगा। केवल सत्कार करते रहो, सर्वदा पवित्र चिन्तन करो, असत् संस्कार रोकने का बस यही एक उपाय है। ऐसा कभी मत कहो कि अमुक के उद्धार की कोई आशा नही है। क्यों? इसलिए कि वह व्यक्ति केवल एक विशिष्ट प्रकार के चरित्र का—कुछ अभ्यासो की समष्टि का द्योतक मात्र है, और ये अभ्यास नए और सत् अभ्यास से दूर किए जा सकते हैं। चरित्र बस पुन पुन. अभ्यास की समष्टि मात्र है और इस प्रकार का पुन पुन अभ्यास ही चरित्र का पुनर्गठन कर सकता है।

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥१३॥

सूत्रार्थ—उन (वृत्तियो) को पूर्णतया वश में रखने के लिए जो सतत प्रयत्न है, उसे अभ्यास कहते हैं।

व्याख्या—अभ्यास किसे कहते है? मन को दमन करने की चेष्टा अर्थात् प्रवाह-रूप में उसकी बाहर जाने की प्रवृति को रोकने की चेष्टा ही अभ्यास है।

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥१४॥

सूत्रार्थ—दीर्घकाल तक परम श्रद्धा के साथ (उस परमपद की प्राप्ति के लिए) सतत चेष्टा करने से वह (अभ्यास) दृढभूमि (अर्थात् दृढ़ अवस्थावाला) हो जाता है।

व्याख्या—यह सयम एक दिन में नही आता, इसके लिए तो दीर्घकाल तक निरन्तर अभ्यास करना पडता है।

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥१५॥

सूत्रार्थ—देखे और सुने हुए विषयो के प्रति तृष्णा का सर्वथा त्याग कर देनेवाले के पास जो एक अपूर्व भाव आता है, जिससे वह समस्त विषय-वासनाओ का दमन करने में समर्थ होता है, उसे वैराग्य या अनासक्ति कहते है। (उसके चार प्रकार है—यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार।)

व्याख्या—दो शक्तियाँ हमारी सारी कार्य-प्रवृत्तियो की नियामक है। एक है हमारी अपनी अभिज्ञता और दूसरी है, दूसरो की अनुभूति। ये दो शक्तियाँ हमारे मानस-सरोवर में नाना प्रकार की तरगे पैदा करती रहती है। इन दोनो शक्तियो के विरूद्ध लडाई ठानने और मन को वश मे रखने के लिए हमें वैराग्यरूपी शक्ति की सहायता लेनी पडती है। इन दोनो का त्याग ही हमारा अभीष्ट है। मान लो, मै एक सडक से जा रहा हूँ। एक मनुष्य आता है और मेरी घडी छीन लेता है। यह मेरा निजी अनुभव हुआ। यह मै स्वय देखता हूँ। वह तुरन्त मेरे चित्त मे एक तरग उत्पन्न कर देता है, जो क्रोध का आकार ले लेती है। अब मुझे चाहिए कि मै उस भाव को न आने दूँ। यदि मै उसे न रोक सकूँ, तो फिर मुझमें है ही क्या? कुछ भी नही। यदि मै रोक सका, तभी समझा जायगा कि मुझमे वैराग्य है। फिर, ससारी लोगो का अनुभव हमें सिखाता है कि विषय-भोग ही जीवन का चरम लक्ष्य है। ये सब हमारे लिए भयानक प्रलोभन है। उन सबके प्रति पूर्णतया उदासीन हो जाना और उन सबसे प्रभावित होकर मन को तद्रूप

वृत्ति के आकार मे परिणत न होने देना ही वैराग्य है। स्वय अपने अनुभव किए हुए और दूसरो के अनुभव किए हुए विषयों से हममे जो दो प्रकार की कार्य-प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हे दबाना और इस प्रकार चित्त को उनके वश मे नही आने देना ही वैराग्य कहलाता है। वे सब मेरे अधीन रहे, मै उनके अधीन न होऊँ—इस प्रकार के मनोवल को वैराग्य कहते है, और यह वैराग्य ही मुक्ति का एकमात्र उपाय है।

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥१६॥

सूत्रार्थ—जो (वैराग्य) पुरुष के (असल स्वरूप के) ज्ञान से आता है और जो गुणों का भी सर्वथा त्याग कर देता है, वह पर-वैराग्य है।

व्याख्या—वैराग्य की शक्ति का उच्चतम विकास तो तब होता है, जब वह गुणो के प्रति हमारी आसक्ति को भी दूर हटा देता है। पहले हमे समझ लेना होगा कि यह पुरुष या आत्मा क्या है, ये गुण क्या है। योगशास्त्र के मत से, यह सारी प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। ये गुण हैं—तम, रज और सत्त्व। ये तीनो गुण बाह्य जगत् मे क्रमश तम (अन्धकार) या जडता, आकर्षण या विकर्षण और उन दोनो का सामजस्य, इन तीन प्रकार के भावो मे प्रकाशित होते हैं। प्रकृति की सारी वस्तुएँ, यह सारा-का-सारा प्रपच ही इन तीनो शक्तियो के विभिन्न मेल से उत्पन्न हुआ है। साख्य मतवालो ने प्रकृति को नाना प्रकार के तत्त्वो में विभक्त किया है, मनुष्य की आत्मा इन सबके बाहर है, प्रकृति के बाहर है, वह स्वयप्रकाश, शुद्ध और पूर्णस्वरूप है। प्रकृति में हम जो कुछ चैतन्य का प्रकाश देख पाते है, वह सभी प्रकृति में आत्मा का प्रतिबिम्ब मात्र है। प्रकृति स्वयं जड़-

है। यह स्मरण रखना चाहिए कि मन भी प्रकृति शब्द के अन्तर्भूत है, वह प्रकृति के भीतर की वस्तु है। हमारे जो कुछ विचार है, वे सब-के-सब प्रकृति के ही अन्तर्गत हैं। विचार से लेकर सबसे स्थूलतम जड पदार्थ तक सभी प्रकृति के अन्तर्गत हैं—प्रकृति की विभिन्न अभिव्यक्ति मात्र हैं। इस प्रकृति ने मनुष्य की आत्मा को आवृत कर रखा है, और जब वह अपने इस आवरण को हटा लेती है, तब आत्मा आवरण-मुक्त हो अपनी महिमा में प्रकाशित हो जाती है। पन्द्रहवे सूत्र में जिस वैराग्य की बात बतलाई गई है, जिसके द्वारा समस्त विषयो को अर्थात् प्रकृति को वश में लाया जाता है, वह आत्मा के प्रकाशित होने में सबसे बडा सहायक है। अगले सूत्र में समाधि या पूर्ण एकाग्रता के लक्षण का वर्णन किया गया है। यह समाधि ही योगी का चरम लक्ष्य है।

वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः ॥१७॥

सूत्रार्थ—वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता—इन चारों के सम्बन्ध से युक्त (जो समाधि है, वह) सम्प्रज्ञात या सम्यक् ज्ञानपूर्वक समाधि कहलाती है।

व्याख्या—समाधि दो प्रकार की है। एक है सम्प्रज्ञात और दूसरी, असम्प्रज्ञात। इस सम्प्रज्ञात समाधि मे प्रकृति को वश में करने की समस्त शक्तियाँ आती है। सम्प्रज्ञात समाधि के चार प्रकार है। इसके प्रथम प्रकार को सवितर्क समाधि कहते है। सब समाधियो में ही मन को अन्य सब विषयो से हटाकर विशिष्ट विषय के ध्यान मे पुन-पुन नियुक्त करना पडता है। इस तरह के विचार या ध्यान के विषय दो प्रकार के है। एक तो, चौबीस जड तत्त्व और दूसरा, चेतन पुरुष।

योग का यह अंश सम्पूर्णतया सांख्यदर्शन पर स्थापित है। इस सांख्यदर्शन के बारे में मैं तुमसे पहले ही कह चुका हूँ। तुम्हें शायद याद होगा कि मन, बुद्धि और अहकार की एक साधारण आधारभूमि है। उसे चित्त कहते हैं, चित्त से ही उनकी उत्पत्ति है। यह चित्त प्रकृति की विभिन्न शक्तियो को लेकर उन्हे विचार के रूप मे परिणत करता है। फिर यह भी अवश्य स्वीकार करना होगा कि शक्ति और जड पदार्थ दोनों का कारणस्वरूप एक पदार्थ है, जहाँ पर वे दोनों एक हैं। यह पदार्थ अव्यक्त कहलाता है—वह सृष्टि के पूर्व प्रकृति की अप्रकाशित अवस्था है। उसमे एक कल्प के बाद सारी प्रकृति लौट आती है, फिर दूसरे कल्प में उससे पुन सब प्रादुर्भूत होते हैं। इन सबके अतीत चैतन्यघन पुरुष विद्यमान है। ज्ञान ही वास्तविक शक्ति है। किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त होने पर ही हम उस पर अपना अधिकार चलाने में समर्थ होते है। इसी प्रकार, जब हमारा मन इन सब विभिन्न तत्त्वो पर ध्यान करने लगता है, तो उन पर अधिकार प्राप्त करता जाता है। जिस प्रकार की समाधि में बाह्य स्थूल भूत ही ध्यान के विषय होते है, उसे सवितर्क कहते हैं। वितर्क का अर्थ है प्रश्न, और सवितर्क का अर्थ है प्रश्न के साथ—मानो उन स्थूल भूतो से पूछना, जिससे वे अपने अन्तर्गत सत्य और अपनी सारी शक्ति अपने ऊपर ध्यान करनेवाले पुरुष को दे दे—इसी को सवितर्क कहते है। किन्तु सिद्धियाँ प्राप्त करने से ही मुक्ति नही हो जाती। वह तो भोग के लिए साधन मात्र है। पर यहाँ, इस जीवन में, यथार्थ भोग-सुख है ही नही। ससार मे यही सबसे पुराना उपदेश है कि यहाँ भोग-सुख का अन्वेषण वृथा है; पर मनुष्य के लिए इसे समझना अत्यन्त कठिन है। किन्तु जब वह

इसकी धारणा कर लेता है, तब इस जगत्-प्रपंच से अतीत होकर मुक्त हो जाता है। जिन्हें साधारणतः सिद्धियाँ कहते हैं, उनको प्राप्त करने का अर्थ है दुनियादारी तथा संसार के जंजाल को और भी बढ़ाना। अन्त में उनसे क्लेश की ही वृद्धि होती है। यह सत्य है कि विज्ञान की दृष्टि को अपनाते हुए पतंजलि ने इन सिद्धियों के लाभ की सम्भावना को स्वीकार किया है, पर साथ ही वे इन सब सिद्धियों के प्रलोभन से हमें सावधान करते रहने में भी कभी नहीं चूके।

फिर, उसी ध्यान में जब उन भूतों को देश और काल से अलग करके उनके स्वरूप का चिन्तन किया जाता है, तब उस समाधि को निर्वितर्क समाधि कहते हैं। जब और एक कदम आगे बढ़कर तन्मात्राओं को ध्यान का विषय बनाया जाता है और उन्हें देश-काल के अन्तर्गत समझकर उन पर ध्यान किया जाता है, तब उसे सविचार समाधि कहते हैं। फिर जब इसी समाधि में देश-काल के अतीत जाकर उन सूक्ष्म भूतों के स्वरूप का चिन्तन किया जाता है, तब उसे निर्विचार समाधि कहते हैं। इसके बाद का कदम वह है, जिसमें सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के भूतों का चिन्तन छोड़कर अन्तःकरण को ध्यान का विषय बनाया जाता है। जब अन्तःकरण को रज और तम इन दोनों गुणों से रहित सोचा जाता है, तब उसे आनन्द समाधि कहते हैं। जब स्वयं मन ध्यान का विषय होता है, जब ध्यान बिलकुल परिपक्व और एकाग्र हो जाता है, जब स्थूल और सूक्ष्म भूतों की समस्त भावनाएँ त्याग दी जाती हैं और जब अन्य सब विषयों से पृथक् होकर अहंकार की केवल सत्त्वावस्था ही शेष रहती है, तब उसे अस्मिता समाधि कहते हैं। इस अवस्था में भी पूर्णतया मन के अतीत होना सम्भव

नही होता। जिस मनुष्य ने इस अवस्था की प्राप्ति कर ली है, उसे वेदो मे 'विदेह' कहा गया है। ऐसा व्यक्ति स्वय का स्थूल देह से रहित रूप में चिन्तन कर सकता है, पर तो भी उसे स्वयं को एक सूक्ष्मशरीरधारी के रूप मे सोचना ही पडता है। जो लोग इस अवस्था मे रहते हुए, उस परमपद की प्राप्ति बिना किए, प्रकृति मे लीन हो जाते हे, उन्हे प्रकृतिलय कहते है, पर जो लोग इस प्रकार के सूक्ष्म भोग-सुख से भी सन्तुप्ट नही होते, वे ही चरम लक्ष्य—मुक्ति— प्राप्त करते है।

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥१८॥

सूत्रार्थ—दूसरे प्रकार की समाधि में समस्त मानसिक क्रियाओ के विराम का सतत अभ्यास किया जाता है, (उसमें व्युत्थान-प्रत्ययहीन) संस्कार-मात्र ही शेष रहता है।

व्याख्या—यही वह पूर्ण ज्ञानातीत असम्प्रज्ञात समाधि है, जो हमें मुक्त कर देती है। पहले जिस समाधि की बात कही गई है, वह हमे मुक्ति नही दे सकती—आत्मा को मुक्त नही कर सकती। भले ही कोई मनुष्य समस्त शक्तियाँ प्राप्त कर ले, पर तो भी उसका पतन हो सकता है। जब तक आत्मा प्रकृति के अतीत होकर सम्प्रज्ञात समाधि के भी बाहर नही चली जाती, तब तक पतन का भय बना ही रहता है। यद्यपि इसकी साधन-प्रणाली बहुत सरल मालूम होती है, पर इसे प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। यह साधन-प्रणाली ऐसी है कि इसमें स्वय मन पर ध्यान करना पडता है, और जब कभी कोई विचार उठता है, तो तत्क्षण उसे दबा देना पडता है; मन के अन्दर किसी प्रकार के विचार को स्थान न देकर उसे सम्पूर्णतया शून्य कर देना पड़ता है। जब हम सचमुच यह करने मे समर्थ हो जायँगे,

तो बस उसी क्षण हम मुक्त हो जायँगे। जो लोग पूर्व-साधन या पूर्व-तैयारियाँ किए बिना ही मन को शून्य करने का प्रयत्न करते है, उनका मन अज्ञानात्मक तमोगुण से आवृत हो जाता है, और वह उनके मन को आलसी एव अकर्मण्य कर देता है, यद्यपि वे सोचते है कि वे मन को शून्य कर रहे है। इसके साधन में सचमुच समर्थ होना उच्चतम शक्ति का प्रकाश है—मन को शून्य करने में समर्थ होना यानी सयम की चरमावस्था प्राप्त कर लेना है। जब इस असम्प्रज्ञात या ज्ञानातीत अवस्था की प्राप्ति हो जाती है, तब यह समाधि निर्वीज हो जाती है। समाधि के निर्वीज होने का तात्पर्य क्या है? सम्प्रज्ञात समाधि मे चित्त-वृत्तियो का केवल दमन भर होता है, पर तब भी वे सस्कार या बीजाकार मे विद्यमान रहती है। अवसर पाते ही वे पुन तरगाकार मे प्रकट हो जाती हैं। पर जब सस्कारो को भी निर्मूल कर दिया जाता है, जब मन को भी लगभग नष्ट कर दिया जाता है, तब समाधि निर्वीज हो जाती है, तब मन मे ऐसा कोई सस्कार-बीज नही रह जाता, जिससे यह जीवन-लता फिर से लहलहा सके, जिससे यह अविराम जन्म-मृत्यु का चक्र और भी घूम सके।

तुम लोग पूछ सकते हो कि वह फिर ऐसी कौनसी अवस्था है, जहाँ मन नही, जिसमें कोई ज्ञान नही? जिसे हम ज्ञान कहते है, वह तो उस ज्ञानातीत अवस्था की तुलना मे एक निम्नतर अवस्था मात्र है। यह हमेशा स्मरण रखना चाहिए कि किसी विषय की सर्वोच्च और सर्वनिम्न अवस्थाएँ प्राय एक ही प्रकार की मालूम होती है। ईथर (आकाश-तत्त्व) का कम्पन मृदुतम होने से उसे अन्धकार कहते है, फिर उसका उच्चतम कम्पन भी

अन्धकार के समान दिखता है। तो क्या ये दोनो प्रकार के अन्धकार एक ही हैं? नही, उनमे से एक सचमुच अन्धकार है, और दूसरा अत्यन्त तीव्र आलोक, यद्यपि दोनो देखने मे एक ही समान प्रतीत होते है। इसी प्रकार, अज्ञान सबसे निम्नावस्था है और ज्ञान मध्यावस्था। और इस ज्ञान के भी अतीत एक उच्च अवस्था है। पर अज्ञानावस्था और ज्ञानातीत अवस्था दोनों देखने में एक ही समान है। हम जिसे ज्ञान कहते है, वह एक उत्पन्न द्रव्य है—एक मिश्र पदार्थ है, वह प्रकृत सत्य नही है।

प्रश्न उठ सकता है, इस उच्चतर समाधि के लगातार अभ्यास का फल क्या होगा? इस अभ्यास के पहले अस्थिरता और जडत्व की ओर हमारे मन की जो एक गति थी, इस अभ्यास से वह तो नष्ट होगी ही, साथ ही सत्प्रवृत्ति का भी नाश हो जायगा। बिना साफ किए हुए सोने मे, मल निकालने के लिए कोई रासायनिक वस्तु मिलाने पर जो कुछ होता है, यहाँ भी ठीक वैसा ही होता है। जब खदान से निकाली हुई अपरिष्कृत धातु को गलाया जाता है, तब जो रासायनिक पदार्थ उसके साथ मिलाए जाते है, वे भी उसके मैल के साथ गल जाते है। इसी प्रकार, पूर्वोक्त समाधि के सतत अभ्यास से जो सयम-शक्ति प्राप्त होती है, उससे पहले की असत्-प्रवृत्तियाँ नष्ट हो जाती है और अन्त मे सत्-प्रवृत्तियाँ भी। इस तरह सत् और असत् दोनो प्रकार की प्रवृत्तियो के निरोध से आत्मा सब प्रकार के बन्धनो से विमुक्त हो जाती है और अपनी महिमा मे, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान एव सर्वज्ञ रूप से अवस्थित रहती है। तब मनुष्य जान पाता है कि न कभी उसका जन्म था, न मृत्यु; न उसे कभी इहलोक की जरूरत थी, न परलोक की। तब वह

जान पाता है कि न वह कही से आया था, न कही गया, वह तो प्रकृति थी, जो यहाँ-वहाँ आना-जाना कर रही थी, और प्रकृति की यह हलचल ही आत्मा मे प्रतिविम्वित हो रही थी। काच में से प्रतिविम्वित होकर प्रकाश दीवाल पर पडता है और हिलता-डुलता है। दीवाल मूर्ख के समान शायद सोचती हो कि मै ही हिल-डुल रही हूँ। ठीक ऐसा ही हम सबो के बारे मे भी है, चित्त ही लगातार इधर-उधर जा रहा है, अपने को नाना रूपो मे परिणत कर रहा है, पर हम लोग सोचते हैं कि हमी ये विभिन्न रूप धारण कर रहे हैं। असम्प्रज्ञात समाधि के अभ्यास से यह सारा अज्ञान दूर हो जायगा। जब वह मुक्त आत्मा कोई आदेश देगी—भिखारी की भाँति प्रार्थना करेगी या माँगेगी नही, वरन् आदेश देगी—तब वह जो कुछ चाहेगी, सब तुरन्त पूर्ण हो जायगा, वह जो कुछ इच्छा करेगी, वही करने में समर्थ होगी। साख्यदर्शन के मतानुसार ईश्वर का अस्तित्व नही है। यह दर्शन कहता है कि जगत् का कोई ईश्वर नही रह सकता, क्योकि यदि वह रहे, तो अवश्य वह एक आत्मा ही होना चाहिए, और आत्मा या तो बद्ध होगी या मुक्त। जो आत्मा प्रकृति के अधीन है, प्रकृति ने जिस पर अपना आधिपत्य जमा लिया है, वह भला कैसे सृष्टि कर सकेगी? वह तो स्वय एक दास है। और दूसरी ओर, यदि आत्मा मुक्त हो, तो वह क्योकर इस जगत्-प्रपच की रचना करेगी, क्यो इस पूरे ससार की क्रिया आदि का सचालन करगी? उसकी तो कोई अभिलाषा नही रह सकती, अत उसके सृष्टि या जगत्-शासन आदि करने का कोई प्रयोजन नही रह जाता। द्वितीयत, यह साख्यदर्शन कहता है कि ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करने की

कोई आवश्यकता नही है। प्रकृति को मानने से ही जब सभी का स्पष्टीकरण हो जाता है, तो फिर किसी ईश्वर को लाने की आवश्यकता क्या ? कपिल मुनि कहते है कि बहुतसे व्यक्ति ऐसे है, जो सिद्धावस्था के नजदीक जाकर भी विभूति-लाभ की वासना पूर्णतया छोडने मे समर्थ न होने के कारण योगभ्रष्ट हो जाते है। उनका मन कुछ काल तक प्रकृति मे लीन होकर रहता है, जब वे पुन पैदा होते है, तब प्रकृति के मालिक होकर आते है। यदि इन्हे ईश्वर कहो, तो ऐसे ईश्वर अवश्य हैं। हम सभी एक समय ऐसा ईश्वरत्व प्राप्त करेगे। साख्यदर्शन के मतानुसार, वेद मे जिस ईश्वर की बात कही गई है, वह ऐसी ही एक मुक्तात्मा का वर्णन मात्र है। इसके अतिरिक्त जगत् का अन्य कोई नित्यमुक्त, आनन्दमय सृष्टिकर्ता नही है। दूसरी ओर, योगीगण कहते है, "नही, ईश्वर है, अन्य सभी आत्माओ से—सभी पुरुषो से अलग एक विशेष पुरुष है, वे समग्र सृष्टि के नित्य प्रभु है, वे नित्यमुक्त है और सभी गुरुओ के गुरुस्वरूप है।" साख्यमतवाले जिन्हे प्रकृतिलय कहते है, योगीगण उनका भी अस्तित्व स्वीकार करते हैं। वे कहते है कि ये योगभ्रष्ट योगी है। कुछ समय तक के लिए उनकी चरम लक्ष्य की ओर गति मे बाधा होती है, और उस समय वे जगत के अशविशेष के अधिपति-रूप से अवस्थान करते है।

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥१९॥

सूत्रार्थ—(यह समाधि यदि परवैराग्य के साथ अनुष्ठित न हो, तो) वही देवताओं और प्रकृतिलीनों की पुनरुत्पत्ति का कारण है।

व्याख्या —भारतीय धर्मप्रणालियो में देवता का तात्पर्य है—कुछ उच्चपदस्थ व्यक्ति। भिन्न-भिन्न जीवात्मा एक के बाद

एक इन पदो की पूर्ति करते है। पर इनमें से कोई भी पूर्ण नही है।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥२०॥

सूत्रार्थ —दूसरों को श्रद्धा अर्थात् विश्वास, वीर्य अर्थात् मन का तेज, स्मृति, समाधि अर्थात् एकाग्रता और प्रज्ञा अर्थात् सत्य वस्तु के विवेक से (यह समाधि) प्राप्त होती है।

व्याख्या—जो लोग देवतापद या किसी कल्प के शासन-कर्ता होने की भी कामना नही करते, उन्ही की बात कही जा रही है। वे मुक्ति प्राप्त करते है।

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥२१॥

सूत्रार्थ—जिनके साधन की गति तीव्र है, उनके लिए (यह योग) शीघ्र (सिद्ध) हो जाता है।

मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः ॥२२॥

सूत्रार्थ—साधन की हल्की, मध्यम और उच्च मात्रा के अनुसार योगियो की सिद्धि में भी भेद हो जाता है।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥२३॥

सूत्रार्थ—अथवा ईश्वर के प्रति भक्ति से भी (समाधि सिद्ध होती है)।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥२४॥

सूत्रार्थ—दुःख, कर्म, कर्मफल और वासना के सम्बन्ध से रहित पुरुषविशेष ईश्वर (परम नियन्ता) है।

व्याख्या—हमें यहाँ फिर से स्मरण करना होगा कि पातंजल योगदर्शन सांख्यदर्शन पर स्थापित है। भेद केवल इतना है कि सांख्यदर्शन में ईश्वर का स्थान नही है, जब कि योगीगण ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। ईश्वर को मानने पर भी

योगीगण ईश्वर सम्बन्धी सृष्टि-कर्तृत्व आदि विविध भावो की कोई बात नही उठाते। योगियो के ईश्वर से जगत् के सृष्टि-कर्ता ईश्वर का बोध नही होता। वेद के मतानुसार ईश्वर जगत्-स्रष्टा है। वेद का अभिप्राय यह है कि जगत् में जब सामजस्य देखा जाता है, तो जगत् अवश्य एक इच्छा-शक्ति का ही प्रकाश होगा।

योगीगण ईश्वर का अस्तित्व स्थापित करने के लिए एक नए प्रकार की युक्ति काम मे लाते है। वे कहते है —

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञत्वबीजम् ॥२५॥

सूत्रार्थ—औरो में जिस सर्वज्ञत्व का बीज मात्र रहता है, वही उनमें निरतिशय अर्थात् अनन्त भाव धारण करता है।

व्याख्या—मन को सदैव अति बृहत् और अति क्षुद्र, इन दो चरम भावो के भीतर ही घूमना पडता है। तुम एक ससीम देश की बात भले ही सोचो, पर वही भावना तुम्हारे भीतर असीम देश का भाव भी जगा देगी। यदि आँखे बन्द करके तुम एक छोटेसे देश के बारे मे सोचो, तो देखोगे, उस छोटेसे देशरूप वृत्त के साथ ही उसके चारो ओर अमर्यादित विस्तारवाला एक दूसरा वृत्त भी है। काल के बारे मे भी ठीक यही बात है। मान लो, तुम एक सेकण्ड समय के बारे मे सोच रहे हो। तो उसके साथ-ही-साथ तुमको अनन्त काल की भी बात सोचनी पड़ेगी। ज्ञान के बारे मे भी ठीक ऐसा ही समझना चाहिए। मनुष्य मे ज्ञान का केवल बीज-भाव है; पर इस क्षुद्र ज्ञान की बात मन मे लाने के साथ ही अनन्त ज्ञान के बारे मे भी सोचना पड़ेगा। इस प्रकार, हमारे मन की गठन से ही यह बिलकुल स्पष्ट है कि एक अनन्त ज्ञान है। इस अनन्त ज्ञान को ही योगीगण ईश्वर कहते है।

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।।२६।।

सूत्रार्थ—वे प्राचीन गुरुगणों के भी गुरु हैं, क्योकि वे काल से सीमित नहीं हैं।

व्याख्या—यह सत्य है कि समस्त ज्ञान हमारे भीतर ही निहित है, पर उसे एक दूसरे ज्ञान के द्वारा जागृत करना पडता है। यद्यपि जानने की शक्ति हमारे अन्दर ही विद्यमान है, फिर भी हमे उसे जगाना पडता है। और योगियो के मतानुसार, ज्ञान को इस प्रकार जगाना अर्थात् ज्ञान का उन्मेष एक दूसरे ज्ञान के सहारे ही हो सकता है। अचेतन जड पदार्थ ज्ञान का विकास कभी नही करा सकता—केवल ज्ञान की शक्ति से ही ज्ञान का विकास होता है। हमारे अन्दर जो ज्ञान है, उसको जगाने के लिए ज्ञानी पुरुषो का हमारे पास रहना सदैव आवश्यक है। यही कारण है कि इन गुरुओ की आवश्यकता सदा ही बनी रही है। जगत् कभी भी इन आचार्यों से रहित नही हुआ। उनकी सहायता बिना कोई भी ज्ञान नही आ सकता। ईश्वर सारे गुरुओ के भी गुरु हैं, क्योकि ये सब गुरु कितने ही उन्नत क्यो न रहे हो, वे देवता या स्वर्गदूत ही क्यो न रहे हो, पर वे सब-के-सब बद्ध थे और काल से सीमित थे, किन्तु ईश्वर काल से आबद्ध नही है। योगियो के दो विशेष सिद्धान्त हैं। एक तो यह कि सान्त वस्तु की भावना करते ही मन बाध्य होकर अनन्त की भी बात सोचेगा, और यदि उस मानसिक अनुभूति का एक भाग सत्य हो, तो उसका दूसरा भाग भी अवश्यमेव सत्य होगा। क्यो? इसलिए कि जब दोनो उस एक ही मन की अनुभूतियाँ है, तो दोनो अनुभूतियो का मूल्य समान ही होगा। मनुष्य का ज्ञान अल्प है अर्थात् मनुष्य अल्पज्ञ है—

इसी से जाना जाता है कि ईश्वर का ज्ञान अनन्त है, ईश्वर अनन्तज्ञानसम्पन्न है। यदि हम इन दोनो अनुभूतियो मे से एक को ग्रहण करे, तो दूसरे को भी क्यो न ग्रहण करेगे? युक्ति तो कहती है—या तो दोनो को मान लो, या फिर दोनो को ही छोड़ दो। यदि मै विश्वास करूँ कि मनुष्य अल्पज्ञानसम्पन्न है, तो मुझे यह भी अवश्य मानना पडेगा कि उसके पीछे कोई असीमज्ञानसम्पन्न पुरुष है। दूसरा सिद्धान्त यह है कि गुरु बिना कोई भी ज्ञान नही हो सकता। आजकल के दार्शनिको का जो कथन है कि मनुष्य का ज्ञान उसके स्वय के भीतर से उत्पन्न होता है, यह सच है, सारा ज्ञान मनुष्य के भीतर ही विद्यमान है, पर उस ज्ञान के विकास के लिए कुछ अनुकूल परिस्थितियों की आवश्यकना होती है। हम गुरु बिना कोई ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। अब बात यह है कि यदि मनुष्य, देवता अथवा कोई स्वर्गदूत हमारे गुरु हो, तो वे भी तो ससीम हैं, फिर उनसे पहले उनके गुरु कौन थे? हमें मजबूर होकर यह चरम सिद्धान्त स्थिर करना ही होगा कि एक ऐसे गुरु है, जो काल के द्वारा सीमाबद्ध या अवच्छिन्न नही हैं। उन्ही अनन्त ज्ञानसम्पन्न गुरु को, जिनका आदि भी नही और अन्त भी नही, ईश्वर कहते है।

तस्य वाचकः प्रणवः ॥२७॥

सूत्रार्थ—प्रणव अर्थात् ओंकार उनका वाचक (प्रकाशक) है।

व्याख्या—तुम्हारे मन में जो भी भाव उठता है, उसका एक प्रतिरूप शब्द भी रहता है, इस शब्द और भाव को अलग नही किया जा सकता। एक ही वस्तु के बाहरी भाग को शब्द और अन्तर्भाग को विचार या भाव कहते हैं। कोई भी व्यक्ति

विश्लेषण के बल से विचार को शब्द से अलग नही कर सकता।
बहुतो का मत है कि कुछ लोग एक साथ बैठकर यह स्थिर करने लगे कि किस भाव के लिए कौनसे शब्द का प्रयोग किया जाय, और इस प्रकार भाषा की उत्पत्ति हो गई। किन्तु यह प्रमाणित हो चुका है कि यह मत भ्रमात्मक है। जब से मनुष्य विद्यमान है, तब से शब्द और भाषाएँ रही है। अब बात यह है कि एक भाव और एक शब्द मे परस्पर क्या सम्बन्ध है। यद्यपि हम देखते है कि एक भाव के साथ एक शब्द का रहना अनिवार्य है, तथापि ऐसा नही कि एक भाव एक ही शब्द द्वारा प्रकाशित हो। बीस विभिन्न देशो मे भाव एक ही होने पर भी भाषाएँ बिलकुल भिन्न-भिन्न हो सकती है। प्रत्येक भाव को प्रकट करने के लिए एक-न-एक शब्द की आवश्यकता अवश्य होगी, किन्तु इस एक भाव के प्रकाशक शब्दो का एक ही उच्चारण-विशिष्ट होना कोई आवश्यक नही। विभिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न उच्चारण-विशिष्ट शब्दो का व्यवहार होगा। इसीलिए टीकाकार ने कहा है, "यद्यपि भाव और शब्द का परस्पर सम्बन्ध स्वाभाविक है तथापि एक शब्द और एक भाव के बीच एक नितान्त अलघनीय सम्बन्ध ही रहे, ऐसी कोई बात नही।" * यद्यपि ये सब शब्द भिन्न-भिन्न होते है, तो भी शब्द और भाव का परस्पर सम्बन्ध स्वाभाविक है। यदि वाच्य और वाचक के बीच प्रकृत सम्बन्ध रहे, तभी यह कहा जा सकता है कि भाव और शब्द के बीच परस्पर सम्बन्ध है। यदि ऐसा न हो, तो वह वाचक शब्द कभी

* 'सर्वे एव शब्दा सर्वाकारार्थाभिधानसमर्था—इति स्थित एषैषा सर्वाकारैरर्थ स्वाभाविक. सम्बन्ध।'—व्यासभाष्य की वाचस्पतिमिश्र-कृत टीका।

सर्वसाधारण के उपयोग मे नही आ सकता। वाचक वाच्यपदार्थ का प्रकाशक होता है। यदि वह वाच्य वस्तु पहले से अस्तित्व में रहे, और हम यदि पुन-पुन परीक्षा द्वारा यह देखे कि उस वाचक शब्द ने उस वस्तु को अनेक बार सूचित किया है, तो हम निश्चित रूप से यह मान सकते है कि उस वाच्य और वाचक के बीच एक यथार्थ सम्बन्ध है। यदि ये वाच्यपदार्थ न भी रहे, तो भी हजारो मनुष्य उनके वाचको के द्वारा ही उनका ज्ञान प्राप्त करेगे। पर हाँ, वाच्य और वाचक के बीच एक स्वाभाविक सम्बन्ध रहना अनिवार्य है। ऐसा होने पर, ज्योही उस वाचक-शब्द का उच्चारण किया जायगा, त्योही वह उस वाच्यपदार्थ की बात मन में ला देगा। सूत्रकार कहते है, ओंकार ईश्वर का वाचक है। सूत्रकार ने विशेष रूप से 'ॐ' शब्द का ही उल्लेख क्यो किया है? 'ईश्वर'—इस भाव को व्यक्त करने के लिए तो सैंकडो शब्द है। एक भाव के साथ हजारो शब्दो का सम्बन्ध रहता है। 'ईश्वर'—इस भाव का सैंकडो शब्दो के साथ सम्बन्ध है और उनमे से प्रत्येक ही तो ईश्वर का वाचक है। फिर उन्होने 'ॐ' को ही क्यो चुना? हाँ, ठीक है, पर वैसा होने पर भी उन शब्दो मे से एक सामान्य शब्द चुन लेना चाहिए। उन सारे वाचको का एक सामान्य आधार निकालना होगा, और जो वाचक-शब्द सबका सामान्य वाचक होगा, वही सर्वश्रेष्ठ समझा जायगा, और वास्तव में वही उसका यथार्थ वाचक होगा। किसी शब्द के उच्चारण के लिए हम कण्ठ नली और तालु का शब्द-उच्चारण के आधार-रूप मे व्यवहार करते हैं। क्या ऐसा कोई भौतिक शब्द है, जिसकी कि अन्य सब शब्द अभिव्यक्ति हैं, जो स्वभावत ही दूसरे सब शब्दो को समझा-

सकता है ? हाँ, 'ओम्' (अउम्) ही वह शब्द है, वही सारे शब्दो की भित्तिस्वरूप है। उसका प्रथम अक्षर 'अ' सभी शब्दो का मूल है—वह सारे शब्दो की कुजी के समान है, वह जिह्वा या तालु के किसी अश को स्पर्श किए बिना ही उच्चारित होता है। 'म' समस्त शब्दो का अन्तिम शब्द है, उसका उच्चारण करने में दोनो ओठो को बन्द करना पडता है। और 'उ' शब्द जिह्वा के मूल से लेकर मुख के मध्यवर्ती शब्दाधार की अन्तिम सीमा तक मानो ढुलकता आता है। इस प्रकार 'ॐ' शब्द के द्वारा शब्दोच्चारण की सम्पूर्ण क्रिया प्रकट हो जाती है। अतएव वही स्वाभाविक वाचक-शब्द है, वही सब विभिन्न शब्दो की जननीस्वरूप है। जितने प्रकार के शब्द उच्चारित हो सकते हैं—हमारी ताकत मे जितने प्रकार के शब्द-उच्चारण की सम्भावना है, 'ओम्' उन सभी का सूचक है। यह सब तात्विक चर्चा छोड देने पर भी, हम देखते है कि भारतवर्ष में जितने सारे विभिन्न धर्मभाव है, यह ओकार उन सबका केन्द्रस्वरूप है, वेद के सब विभिन्न धर्मभाव इस ओकार का ही अवलम्बन किए हुए हैं। अब प्रश्न यह है कि इसके साथ अमेरिका, इगलैण्ड और अन्यान्य देशो का क्या सम्बन्ध है ? उत्तर यह है कि सब देशों मे इस ओकार का व्यवहार हो सकता है। कारण, भारतवर्ष में धर्म के विकास की प्रत्येक अवस्था मे—उसके प्रत्येक सोपान में ओकार को अपनाया गया है, उसका आश्रय लिया गया है और वह ईश्वर सम्बन्धी सारे विभिन्न भावो को व्यक्त करने के लिए व्यवहृत हुआ है। अद्वैतवादी, द्वैतवादी, द्वैताद्वैतवादी, भेद-वादी, यहाँ तक कि नास्तिको ने भी अपने उच्चतम आदर्श को प्रकट करने के लिए इस ओकार का अवलम्बन किया था।

मानव-जाति के अधिकांश के लिए यह ओंकार उनकी अपनी धार्मिक स्पृहा का एक प्रतीक बन गया है। अतएव अन्य सब देशो की विभिन्न जातियाँ भी इसका अवलबन कर सकती है। अँगरेजी गॉड (God) शब्द को लो। वह जिस भाव को प्रकट करता है, वह कोई अधिक दूर तक नही जा सकता। यदि तुम उसके अति-रिक्त अन्य कोई भाव उस शब्द से व्यक्त करने की इच्छा करो, तो तुम्हे उसमे विशेषण लगाना पडेगा—जैसे Personal (सगुण), Impersonal (निर्गुण), Absolute (निर्विशेष) आदि-आदि। अन्य दूसरी भाषाओ मे ईश्वर-वाचक जो सब शब्द हैं, उनके बारे मे भी यही बात घटती है, उनमे बहुत कम भाव प्रकट करने की शक्ति है, किन्तु 'ॐ' शब्द मे ये सभी प्रकार के भाव विद्यमान है। अतएव सर्वसाधारण को उसका ग्रहण करना चाहिए।

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥२८॥

सूत्रार्थ—इस (ओंकार) का जप और उसके अर्थ का ध्यान (समाधि-लाभ का उपाय है)।

व्याख्या—जप अर्थात् बारम्बार उच्चारण की आवश्यकता क्या है? हम सस्कार-विषयक मतवाद को न भूले होगे, हमे स्मरण होगा कि समस्त सस्कारो की समष्टि हमारे मन में विद्यमान है। ये सस्कार क्रमश सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होकर अव्यक्त भाव धारण करते है। पर वे बिलकुल लुप्त नही हो जाते, वे मन के अन्दर ही रहते है, और ज्योही उन्हे यथोचित स्फूर्ति मिलती है, बस त्योही वे मानस-सरोवर की सतह पर उठ आते हैं। परमाणु-कम्पन कभी बन्द नही होता। जब यह सारा ससार नाश को प्राप्त होता है, तब सब बड़े-बड़े कम्पन या प्रवाह लुप्त

हो जाते हैं, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, पृथ्वी, सभी लय को प्राप्त हो जाते है, पर परमाणुओ मे का कम्पन बच रहता है। इन बड़े बडे ब्रह्माण्डो मे जो कार्य होता है, प्रत्येक परमाणु वही कार्य करता है। ठीक ऐसा ही चित्त के बारे मे भी है। चित्त मे होनेवाले सब कम्पन अदृश्य अवश्य हो जाते है, फिर भी परमाणु के कम्पन के समान उनकी सूक्ष्म गति अक्षुण्ण बनी रहती है, और ज्योही उन्हे कोई स्फूर्ति मिलती है, बस त्योही वे पुन बाहर आ जाते है। अब हम समझ सकेगे कि जप अर्थात् बारम्बार उच्चारण का तात्पर्य क्या है। हम लोगो के अन्दर जो धर्म के सस्कार हैं, उन्हे विशेष रूप से बल देने मे यह प्रधान सहायक है। "क्षणमिह सज्जनसगतिरेका। भवति भवार्णवतरणे नौका।"*—साधुओं की एक क्षण की भी सगति भवसागर पार होने के लिए नौका-स्वरूप है। सत्सग की ऐसी जबरदस्त शक्ति है! बाह्य सत्सग की जैसी शक्ति बतलाई गई है, वैसी ही आन्तरिक सत्सग की भी है। इस ओकार का बारम्बार जप करना और उसके अर्थ का मनन करना ही आन्तरिक सत्सग है। जप करो और उसके साथ उस शब्द के अर्थ का ध्यान करो। ऐसा करने से, देखोगे, हृदय मे ज्ञानालोक आयगा और आत्मा प्रकाशित हो जायगी।

'ॐ' शब्द पर मनन तो करोगे ही, पर साथ ही उसके अर्थ पर भी मनन करो। कुसगति छोड दो, क्योकि पुराने घाव के चिह्न अभी भी बने हुए है, उन पर कुसगति की गर्मी लगने भर की देर है कि बस वे फिर से ताजे हो उठेगे। ठीक इसी प्रकार हम लोगो मे जो उत्तम सस्कार है, वे भले ही अभी अव्यक्त हो, पर

* शकराचार्यकृत मोहमुद्गर, ५।

सत्संग से वे फिर से जागरित हो जायँगे—व्यक्त भाव धारण कर लेंगे। संसार मे सत्सग से पवित्र और कुछ भी नहीं है, क्योकि सत्सग से ही शुभ संस्कारो के जागरित होने का सुयोग उपस्थित होता है—वे सब शुभ सस्कार चित्तरूपी सरोवर की तली से ऊपरी सतह पर उठ आते हैं।

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥२९॥

सूत्रार्थ—उससे अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है और (योग के) विघ्नों का नाश होता है।

व्याख्या—इस ओंकार के जप और चिन्तन का पहला फल यह देखोगे कि क्रमश अन्तर्दृष्टि विकसित होने लगेगी और योग के मानसिक एव शारीरिक विघ्नसमूह दूर होते जायँगे। योग के ये विघ्न कौन-कौनसे हैं?

व्याधिस्त्यानसशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमि-
कत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥३०॥

सूत्रार्थ—रोग, मानसिक जडता, सन्देह, उद्यमशून्यता, आलस्य, विषय-तृष्णा, मिथ्या अनुभव, एकाग्रता न पाना, और उसे पाने पर भी उसका न ठहराना—ये जो चित्त के विक्षेप हैं, वे ही विघ्न हैं।

व्याख्या—व्याधि—इस जीवन-समुद्र के उस पार जाने के लिए यह शरीर ही एकमात्र नाव है। इसे स्वस्थ रखने के लिए विशेष यत्न करना चाहिए। जिसका शरीर अस्वस्थ है, वह योगी नही हो सकता। मानसिक जडता आने पर हमारा योगविषयक सारा अनुराग जाता रहता है। और इस अनुराग के अभाव मे, साधन करने के लिए जिस दृढ सकल्प एव शक्ति का रहना आवश्यक है, उसका कुछ भी शेष नही रह जाता। हमारा इस विषय मे विचारजनित विश्वास कितना भी क्यों

न रहे, पर जब तक दूरदर्शन, दूरश्रवण आदि अलौकिक अनुभूतियाँ नही होती, तब तक इस विद्या की सत्यता के बारे मे बहुतसे सशय उपस्थित होगे। जब इन सबका थोडा-थोडा आभास आने लगता है, तो मन भी क्रमश दृढ होता जाता है। और उससे साधक साधनमार्ग मे और भी अध्यवसायशील होता जाता है। अनवस्थितत्व—साधन करते-करते देखोगे कि कुछ दिन या कुछ सप्ताह तो मन अनायास ही एकाग्र और स्थिर हो जाता है, उस समय ऐसा मालूम होगा कि तुम साधनमार्ग मे बहुत शीघ्र उन्नति कर रहे हो।' अचानक एक दिन देखोगे कि तुम्हारा यह उन्नति-स्रोत बन्द हो गया है, मानो जहाज दलदल में फँस गया हो। पर उससे कही हताश मत हो जाना, अध्यवसाय मत खो बैठना। लगे रहो। इस प्रकार उत्थान और पतन मे से होते हुए ही उन्नति होती है।

दु:खदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुव· ॥३१॥

सूत्रार्थ—दु:ख, मन खराब होना, शरीर हिलना, अनियमित श्वास-प्रश्वास—ये सब (चित्त के) विक्षेपो के साथ-साथ उत्पन्न होते है।

व्याख्या—जब कभी एकाग्रता का अभ्यास किया जाता है, तभी मन और शरीर पूर्ण स्थिरभाव धारण करते है। जब साधना ठीक तरीके से नही होती, अथवा जब चित्त पर्याप्त सयत नही रहता, तभी ये सब विघ्न आ उपस्थित होते हैं। ओकार के जप और ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण से मन दृढ होता है तथा नया बल प्राप्त होता है। साधनमार्ग में ऐसी स्नायविक चचलता प्राय सभी को आती है। उधर तनिक भी ध्यान न दे साधना करते रहो। साधना से ही वे सब चले जायँगे, और तब आसन स्थिर हो जायगा।

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥३२॥

सूत्रार्थ—उनको दूर करने के लिए एक तत्त्व का अभ्यास (करना चाहिए) ।

व्याख्या—कुछ समय तक के लिए मन को किसी विशिष्ट विषय के आकार में परिणत करने की चेष्टा करने से पूर्वोक्त विघ्न दूर हो जाते हैं। यह उपदेश अत्यन्त साधारण रूप से दिया गया है। अगले सूत्रो में यही उपदेश विस्तृत रूप से समझाया जायगा और विशिष्ट ध्येय-विषयो के सम्बन्ध में इस साधारण उपदेश का प्रयोग बतलाया जायगा। एक ही प्रकार का अभ्यास सब के लिए उपयोगी नही हो सकता, इसी लिए विभिन्न उपायो की बात कही गई है। प्रत्येक मनष्य स्वयं परीक्षा करके अपने लिए उपयोगी उपाय चुन ले सकता है।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥३३॥

सूत्रार्थ—सुख, दुःख, पुण्य और पाप—इन भावों के प्रति क्रमशः मित्रता, दया, आनन्द और उपेक्षा का भाव धारण कर सकने से चित्त प्रसन्न होता है।

व्याख्या—हममें ये चार प्रकार के भाव रहने ही चाहिए। यह आवश्यक है कि हम सब के प्रति मैत्री-भाव रखे, दीन-दुखियों के प्रति दयावान हो, लोगो को सत्कर्म करते देख सुखी हो, और दुष्ट मनुष्य के प्रति उपेक्षा दिखाएँ। इसी प्रकार, जो भी विषय हमारे सामने आते हैं, उन सब के प्रति भी हमारे ये ही भाव रहने चाहिए। यदि कोई विषय सुखकर हो, तो उसके प्रति मित्रता अर्थात् अनुकूल भाव धारण करना चाहिए। इसी तरह, यदि कोई दु खकर घटना हमारी भावना का विषय हो, तो हमारे

अन्त करण को उसके प्रति करुणापूर्ण होना चाहिए। यदि वह कोई शुभ विषय हो, तो हमें आनन्दित होना चाहिए, तथा असत् विषय होने पर उसके प्रति उदासीन रहना ही श्रेयस्कर है। इन सब विभिन्न विषयो के प्रति मन के इस प्रकार विभिन्न भाव धारण करने से मन शान्त हो जायगा। मन की इस प्रकार के विभिन्न भावो को धारण करने की असमर्थता ही हमारे दैनिक जीवन की अधिकांश गडवडी एव अशान्ति का कारण है। मान लो, किसी ने मेरे प्रति कोई अनुचित व्यवहार किया। तो मै तुरन्त उसका प्रतिकार करने को उद्यत हो जाता हूँ। और इस प्रकार वदला लेने की भावना ही यह दर्शा देती है कि हम चित्त को दवा रखने मे असमर्थ हो रहे हैं। वह उस वस्तु की ओर तरगाकार में प्रवाहित होता है, और वस हम अपनी मन की शक्ति खो वैठते हैं। हमारे मन मे घृणा अथवा दूसरो का अनिष्ट करने की प्रवृत्ति के रूप में जो प्रतिक्रिया होती है, वह मन की शक्ति का क्षय मात्र है। दूसरी ओर, यदि किसी अशुभ विचार या घृणाप्रसूत कार्य अथवा किसी प्रकार की प्रतिक्रिया की भावना का दमन किया जाय, तो उससे शुभकरी शक्ति उत्पन्न होकर हमारे ही उपकार के लिए सचित रहती है। यह वात नही कि इस प्रकार के सयम से हमारी कोई क्षति होती हो, वरन् उससे तो हमारा आशातीत उपकार ही होता है। जव कभी हम घृणा अथवा क्रोध की वृत्ति को संयत करते हैं, तभी वह हमारे अनुकूल शुभ शक्ति के रूप में सचित होकर उच्चतर शक्ति मे परिणत हो जाती है।

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥३४॥

सूत्रार्थ—अथवा प्राणवायु को वाहर निकालने और धारण करने से भी (चित्त स्थिर होता है)।

व्याख्या—यहाँ पर 'प्राण' शब्द का व्यवहार हुआ है। प्राण ठीक श्वास नही है। समग्र जगत् मे जो शक्ति व्याप्त हो रही है, उसी का नाम है प्राण। संसार मे तुम जो कुछ देखते हो, जो कुछ हिलता-डुलता या कार्य करता है, जिसमें भी जीवन है—वह सब-का-सब इस प्राण की ही अभिव्यक्ति है। जगत् में जितनी भी शक्तियाँ विद्यमान है, उनकी समष्टि को प्राण कहते हैं। कल्प-आरम्भ के पूर्व यह प्राण एक प्रकार से बिलकुल गतिहीन अवस्था मे रहता है, और कल्प के शुरू होने पर वह फिर से व्यक्त होना प्रारम्भ करता है। यह प्राण ही गति के रूप मे—मनुष्यो अथवा अन्य प्राणियों मे स्नायविक गति के रूप मे—प्रकाशित होता है। फिर यही विचार तथा अन्य शक्तियो के रूप में भी प्रकाशित होता है। यह सारा जगत् इस प्राण एव आकाश की समष्टि है। मनुष्य-देह के बारे मे भी ठीक यही बात है। जो कुछ तुम देखते हो या अनुभव करते हो, वे सारे पदार्थ आकाश से उत्पन्न हुए है और प्राण से सारी विभिन्न शक्तियाँ। इस प्राण को बाहर निकालने और धारण करने का नाम ही प्राणायाम है। योगदर्शन के पितृस्वरूप पतजलि ने इस प्राणायाम के बारे मे कोई विशेष विधान नही किया है, परन्तु उनके बाद दूसरे योगियो ने इस प्राणायाम के सम्बन्ध मे अनेक तत्त्वो का आविष्कार कर उसकी एक महान् विद्या तैयार कर दी। पतजलि के मतानुसार, यह प्राणायाम चित्तवृत्तिनिरोध के विभिन्न उपायो मे से केवल एक उपाय है, परन्तु उन्होने इस पर कोई विशेष जोर नही दिया है। उनका अभिप्राय इतना ही रहा है कि श्वास को बाहर निकालकर फिर से अन्दर खीच लो और कुछ देर तक उसे धारण किए रखो, उससे मन अपेक्षाकृत कुछ स्थिर हो,

जायगा। किन्तु बाद में इसी से प्राणायाम नामक एक विशेष विद्या की उत्पत्ति हो गई। अब हम देखेंगे कि ये सब बाद के योगीगण उसके बारे मे क्या कहते हैं। इस सम्बन्ध में मैंने पहले ही कुछ कहा है, यहाँ पर उसकी कुछ पुनरावृत्ति करने से वह मन में पक्का बैठ जायगा। पहले तो, यह ध्यान रखना होगा कि यह प्राण ठीक श्वास-प्रश्वास नही है, वरन् जिस शक्ति के बल से श्वास-प्रश्वास को गति होती है, जो वस्तुत श्वास-प्रश्वास की भी जीवनी-शक्ति है, वही प्राण है। फिर, यह 'प्राण' शब्द सब इन्द्रियो के लिए भी व्यवहार मे लाया जाता है, वे सब-की-सब प्राण कहलाती है, मन को भी प्राण कहा जाता है। अतएव हम देखते है कि प्राण का अर्थ है शक्ति। तो भी इसे हम शक्ति नाम नही दे सकते, क्योकि शक्ति तो इस प्राण की अभिव्यक्ति मात्र है। यह प्राण ही शक्ति तथा नाना प्रकार की गति के रूप मे प्रकाशित होता है। चित्त यन्त्रस्वरूप होकर चारो ओर से प्राण को भीतर खीचता है और उससे शरीर-रक्षा करनेवाली विभिन्न जीवनी-शक्तियाँ तथा विचार, इच्छा एवं अन्यान्य सब शक्तियाँ उत्पन्न करता है। पूर्वोक्त प्राणायाम-क्रिया से हम शरीर की समस्त भिन्न-भिन्न गतियो को तथा शरीर के अन्तर्गत समस्त भिन्न-भिन्न स्नायविक शक्तिप्रवाहो को वश में ला सकते है। पहले हम उनको पहचानने लगते है, उनका साक्षात् अनुभव करने लगते है, और फिर धीरे-धीरे उन पर अधिकार प्राप्त करते जाते हैं—उनको वशीभूत करने में सफल होते जाते हैं। पतजलि के बाद के इन योगियो के मतानुसार मनुष्य-देह मे तीन मुख्य प्राण-प्रवाह अर्थात् नाडियाँ हैं। वे एक को इड़ा, दूसरे को पिंगला और तीसरे को सुषुम्ना कहते

है। उनके मतानुसार, पिंगला मेरुदण्ड के दाहिनी ओर है और इडा बाईं ओर, और उस मेरुदण्ड के मध्य में से होते हुए सुषुम्ना नाम की एक खोखली नाली है। उनके मतानुसार इडा और पिंगला ये दो नाड़ियाँ प्रत्येक मनुष्य में कार्य करती है, उनके सहारे ही हमारा जीवन चलता है। सुषुम्ना का कार्य सभी में होना सम्भव अवश्य है, किन्तु असल मे योगी के शरीर में ही उसके भीतर से कार्य हुआ करता है। तुम्हे याद रखना चाहिए कि योगी योगसाधन के बल से अपने शरीर को परिवर्तित कर लेते है। तुम जितना ही साधन करोगे, तुम्हारा शरीर उतना ही परिवर्तित होता जायगा। साधन के पूर्व तुम्हारा शरीर जैसा था, बाद मे वैसा नही रह जायगा। यह बात कोई अयौक्तिक नही है, युक्ति के द्वारा इसको समझाया जा सकता है। हम जो कुछ नए विचार सोचते है, वे मानो हमारे मस्तिष्क मे एक नई प्रणाली तैयार कर देते हैं। इससे हम अच्छी तरह समझ सकते है कि मनुष्य-स्वभाव इतनी रक्षणशीलता का पक्षपाती क्यो है। मनुष्य-स्वभाव ही ऐसा है कि वह पहले चले हुए रास्ते मे ही भ्रमण करना पसन्द करता है, क्योकि वह अपेक्षाकृत सरल होता है। यदि दृष्टान्त के रूप मे हम सोचे कि मन एक सुई के समान है और मस्तिष्क उसके सामने एक कोमल पिण्ड, तो, हम देखेंगे कि हमारा प्रत्येक विचार मस्तिष्क के अन्दर मानो एक रास्ता—एक लीक तैयार कर देता है, और यदि मस्तिष्क के अन्दर का धूसर पदार्थ उस रास्ते के चारो ओर एक सीमा खड़ी न कर दे, तो वह रास्ता बन्द हो जायगा। यदि वह धूसर रंगवाला पदार्थ न रहता, तो हमारी स्मृति ही सम्भव न होती; क्योंकि स्मृति का अर्थ है—मानो इन पुराने रास्तो पर से होकर

जाना—जो बिचार एक बार उठ चुके हैं, उनका मानो पदानुगमन करना। तुम लोगो ने शायद गौर किया होगा, जब मैं सब लोगो के परिचित कुछ विषयो को लेकर, उन्ही को घुमा-फिराकर कुछ बोलता हूँ, तो तुम सब अनायास ही मेरी बात समझ लेते हो। इसका कारण बस इतना ही है कि इस विचार की लीके या प्रणालियाँ हर एक के मस्तिष्क मे विद्यमान है, और उन पर से होकर केवल बारम्बार आना-जाना मात्र आवश्यक होता है। परन्तु जब कभी कोई नया विषय हमारे सामने आता है, तब मस्तिष्क मे एक नई प्रणाली के निर्माण की आवश्यकता होती है, इसीलिए वह विषय उतनी सरलता से समझ मे नही आता। यही कारण है कि मस्तिष्क (मनुष्य नही, मस्तिष्क ही) बिना जाने ही किसी नए प्रकार के भाव द्वारा परिचालित होने से इनकार करता है। वह मानो बलपूर्वक इस नए प्रकार के भाव की गति को रोकने का प्रयत्न करता है। प्राण नई-नई प्रणालियाँ बनाने का प्रयत्न कर रहा है, और मस्तिष्क उसे करने नही देता। बस यही मनुष्य की रक्षणशीलता का रहस्य है। मस्तिष्क मे ये प्रणालियाँ जितने थोड़े परिमाण मे होगी और प्राणरूप सुई उसके भीतर जितनी कम लीके तैयार करेगी, मस्तिष्क उतना ही रक्षणशीलताप्रिय होगा, वह उतना ही नए प्रकार के विचार और भाव के विरुद्ध लड़ाई ठानेगा। मनुष्य जितना ही चिन्तनशील होता है, उसके मस्तिष्क के भीतर के मार्ग उतने ही अधिक जटिल होते हैं, और उतनी ही सुगमता से वह नए-नए भाव ग्रहण कर सकता है तथा उन्हे समझ सकता है। प्रत्येक नवीन भाव के सम्बन्ध मे ऐसा ही समझना चाहिए। मस्तिष्क में एक नवीन भाव आते ही उसके भीतर एक नई

प्रणाली तैयार हो जाती है। यही कारण है कि योगाभ्यास के समय हमारे सामने पहले इतनी शारीरिक बाधाएँ आती है; क्योकि योग सम्पूर्णतया नवीन प्रकार के विचारो एवं भावो की समष्टि है। इसीलिए हम देखते हैं कि धर्म का वह अश, जो प्राकृतिक, जागतिक भाव को लेकर सामने आता है, सर्वसाधारण के लिए इतनी बहुतायत से ग्राह्य होता है, और उसका दूसरा अंश अर्थात् दर्शन या मनोविज्ञान, जो केवल मनुष्य के आभ्यन्तरिक भाग को लेकर सलग्न रहता है, साधारणत लोगो को उतना ग्राह्य नही होता। हमे अपने इस जगत् की व्याख्या स्मरण रखनी चाहिए। हमारा यह जगत् क्या है? वह तो हमारे ज्ञान के स्तर पर प्रकाशित अनन्त सत्ता मात्र है। अनन्त का केवल कुछ अश हमारे ज्ञान के सामने प्रकाशित हुआ है और उसी को हम अपना जगत् कहते है। अतएव हमने देखा कि जगत् के अतीत एक अनन्त सत्ता वर्तमान है। और धर्म को इन दोनो को लेकर रहना पडता है। अर्थात् यह क्षुद्र पिण्ड, जिसे हम अपना जगत् कहते है, और जगत् के अतीत अनन्त सत्ता—ये दोनो ही धर्म के विषय है। जो धर्म इन दोनो में से केवल एक को लेकर रहता है, वह अपूर्ण है। धर्म को इन दोनो को ही अपना विषय बनाना चाहिए। अनन्त का जो भाग हम अपने इस ज्ञान के भीतर से अनुभव करते है, जो मानो देश-काल-निमित्तरूप चक्र के भीतर आ पडा है, उसको धर्म के जिस अश ने अपना विषय बनाया है, वह अश अनायास हमे बोधगम्य हो जाता है, क्योकि हम तो पहले से ही उसी के अन्दर हैं और इस जगत् के भाव एक प्रकार से स्मरणातीत काल से ही हमारे परिचित है। पर उसका जो अश अनन्त को लेकर है, वह हमारे

लिए सर्वथा नवीन है, इसीलिए उसके चिन्तन से मस्तिष्क में नई प्रणालियाँ तैयार होती रहती हैं, जिससे सारा शरीर ही मानो उलट-पलट जाता है। यही कारण है कि साधन करते समय साधारण मनुष्य पहले-पहल अपने मार्ग से विच्युत हो जाता है। इन विघ्न-बाधाओ को यथासम्भव कम करने के लिए ही पतजलि ने इन सब उपायो का आविष्कार किया है, ताकि हम उनमें से ऐसी किसी एक साधनप्रणाली को चुनकर अपना लें, जो हमारे लिए सर्वथा उपयोगी हो।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी ॥३५॥

सूत्रार्थ—जिन सब समाधियो में अलौकिक इन्द्रिय-विषयों की अनुभूति होती है, वे मन की स्थिति का कारण होती है।

व्याख्या—यह बात धारणा अर्थात् एकाग्रता से अपने-आप आती रहती है, योगीगण कहते है कि यदि नासिका के अग्र भाग मे मन को एकाग्र किया जाय, तो कुछ दिनो में ही अद्भुत सुगन्धि का अनुभव होने लगता है। इसी प्रकार जिह्वामूल में मन को एकाग्र करने पर सुन्दर शब्द सुनाई देता है। जिह्वाग्र में ऐसा करने पर दिव्य रसास्वादन होता है। जिह्वा के बीच में सयम करने पर प्रतीत होता है कि मैंने मानो किसी एक वस्तु का स्पर्श किया। तालु मे सयम करने पर दिव्य रूप दीख पडते है। यदि कोई अस्थिरचित्त व्यक्ति इस योग के कुछ साधनो का अवलम्बन करना चाहे और फिर भी उनकी सचाई में सन्दिग्धचित्त हो, तो कुछ दिन साधन करने के बाद, ये सब अनुभूतियाँ होने पर, फिर उसे सन्देह नही रहेगा। तब फिर वह अध्यवसाय के साथ साधन करता रहेगा।

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥३६॥

सूत्रार्थ— अथवा शोक से रहित ज्योतिष्मान पदार्थ के (ध्यान) से भी (समाधि होती है)।

व्याख्या—यह और एक प्रकार की समाधि है। ऐसा ध्यान करो कि हृदय मे मानो एक कमल है; उसकी पँखुडियाँ अधोमुखी है और उसके भीतर से सुषुम्ना गई है। उसके बाद पूरक करो, फिर रेचक करते समय सोचो कि वह कमल पँखुडियों सहित ऊर्ध्वमुखी हो गया है और कमल के भीतर एक महाज्योति विद्यमान है। उस ज्योति का ध्यान करो।

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥३७॥

सूत्रार्थ— अथवा जिस हृदय ने इन्द्रिय-विषयो के प्रति समस्त आसक्ति छोड़ दी है, (उसके ध्यान से भी चित्त स्थिर होता है)।

व्याख्या—किन्ही महापुरुष या साधु को लो, जो पूर्ण रूप से अनासक्त हो और जिन पर तुम्हारी अत्यन्त श्रद्धा हो। उनके हृदय के बारे मे चिन्तन करो। उनका अन्त करण सर्व विषयों में अनासक्त हो गया है, अत उनके अन्त करण के बारे मे चिन्तन करने पर तुम्हारा अन्त करण शान्त हो जायगा। यदि यह न कर सको, तो और एक उपाय है—

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥३८॥

सूत्रार्थ—अथवा स्वप्नावस्था में कभी-कभी जो अपूर्व ज्ञान-लाभ होता है, उसका, तथा सुषुप्ति अवस्था में प्राप्त सात्त्विक सुख का ध्यान करने से भी (चित्त प्रशान्त होता है)।

व्याख्या—कभी-कभी मनुष्य ऐसा स्वप्न देखता है कि उसके पास देवता आकर बातचीत कर रहे हैं; वह मानो एक प्रकार से भावावेश में चूर हो गया है, वायु में एक अपूर्व संगीत

की ध्वनि बहती हुई चली आ रही है और वह उसे सुन रहा है। उस स्वप्नावस्था मे वह आनन्द में मस्त रहता है। जब वह जागता है, तब स्वप्न की वे घटनाएँ उसके मन पर एक गहरी छाप छोड जाती हैं। उस स्वप्न को सत्य मानकर उसका ध्यान करो। यदि तुम इसमें भी समर्थ न होओ, तो जो कोई पवित्र वस्तु तुम्हे अच्छी लगे, उसी का ध्यान करो।

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥३९॥

सूत्रार्थ—अथवा जिसे जो कोई चीज अच्छी लगे, उसी के ध्यान से (समाधि प्राप्त होती है)।

व्याख्या—इससे यह न समझ लेना चाहिए कि किसी असत् वस्तु का भी ध्यान करने से बनेगा। जो कोई सत् वस्तु तुम्हे अच्छी लगे, जो स्थान तुम्हे बहुत पसन्द हो, जो दृश्य या जो भाव तुम्हे बहुत अच्छा लगता हो, जिससे तुम्हारा चित्त एकाग्र हो जाता हो, उसी का चिन्तन करो।

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकार· ॥४०॥

सूत्रार्थ—इस प्रकार ध्यान करते-करते परमाणु से लेकर परम बृहत् पदार्थ तक सभी में उनके मन की गति अव्याहत हो जाती है।

व्याख्या—मन इस अभ्यास के द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म से लेकर बृहत्तम वस्तु तक सभी पर सुगमता से ध्यान कर सकता है। ऐसा होने पर ये मनोवृत्ति-प्रवाह भी धीरे-धीरे क्षीण होने लगते है।

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु
तत्स्थतदंजनता समापत्तिः ॥४१॥

सूत्रार्थ—जिन योगी की चित्तवृत्तियां इस प्रकार क्षीण हो चुकी है (वश में आ चुकी है) उनका चित्त उस समय ग्रहीता (आत्मा) ग्रहण (अन्त करण और इन्द्रियाँ) और ग्राह्य (पचभूत और विषयो) में उसी

प्रकार एकाग्रता और एकीभाव को प्राप्त होता है, जिस प्रकार शुद्ध स्फटिक (भिन्न-भिन्न रंगवाली वस्तुओ के सामने भिन्न-भिन्न रग धारण करता है)।

व्याख्या—इस प्रकार लगातार ध्यान करते-करते कौनसा फल प्राप्त होता है ? हमे यह स्मरण होगा कि पूर्वोक्त एक सूत्र मे पतंजलि ने विभिन्न प्रकार की समाधियो का वर्णन किया है। पहली समाधि है स्थूल विषय को लेकर, और दूसरी है सूक्ष्म विषय को लेकर। आगे चलकर, क्रमश और भी सूक्ष्मतर वस्तुएँ हमारी समाधि का विषय होती जाती है, यह भी पहले कहा जा चुका है। इन सब समाधियो के अभ्यास का फल यह है कि हम जितनी सुगमता से स्थूल विषयो का ध्यान कर सकते है, उतनी ही सुगमता से सूक्ष्म विषयो का भी। इस अवस्था में योगी तीन वस्तुएँ देखते है—ग्रहीता, ग्राह्य और ग्रहण, अर्थात् आत्मा, विषय और मन। हमे ध्यान के लिए तीन प्रकार के विषय दिए गये है। पहला है स्थूल, जैसे—शरीर या भौतिक पदार्थ, दूसरा है सूक्ष्म, जैसे—मन या चित्त, और तीसरा है गुणविशिष्ट पुरुष अर्थात् अस्मिता या अहकार। यहाँ आत्मा का अर्थ उसके यथार्थ स्वरूप से नही है। अभ्यास के द्वारा योगी इन सब ध्यानो मे दृढप्रतिष्ठ होकर रहते हैं। तब उन्हें ऐसी एकाग्रता-शक्ति प्राप्त हो जाती है कि ज्योही वे ध्यान करने बैठते हैं, त्योंही अन्य सभी वस्तुओं को मन से हटा दे सकते है। वे जिस विषय का ध्यान करते है, उस विषय के साथ एक हो जाते हैं, जब वे ध्यान करते है, तब वे मानो स्फटिक के एक टुकड़े के समान हो जाते हैं। यह स्फटिक यदि फूल के पास रहे, तो वह फूल के साथ मानो एकरूप हो जाता है। यदि वह फूल लाल हो, तो स्फटिक भी लाल दिखाई

देता है, और यदि फूल नीले रग का हो, तो स्फटिक भी नीला दिखाई देता है।

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥४२॥

सूत्रार्थ—शब्द, अर्थ और उससे उत्पन्न ज्ञान जब मिश्रित होकर रहते हैं, तब वह सवितर्क अर्थात् वितर्कयुक्त समाधि (कहलाती) है।

व्याख्या—यहाँ शब्द का अर्थ है कम्पन। अर्थ का मतलब है वह स्नायविक शक्ति-प्रवाह, जो उसे भीतर ले जाता है। और ज्ञान का अर्थ है प्रतिक्रिया। हमने अब तक जितने प्रकार की समाधि की बात सुनी है, पतजलि इन सभी को सवितर्क कहते है। इसके बाद वे हमें क्रमश और भी उच्चतर समाधियो की शिक्षा देगे। इन सवितर्क समाधियो मे हम विषयी और विषय इन दोनो को सम्पूर्ण रूप से पृथक रखते हैं। यह पार्थक्य या भेद शब्द, उसके अर्थ और तत्प्रसूत ज्ञान के मिश्रण से उत्पन्न होता है। पहले तो है बाह्य कम्पन—शब्द; जब वह इन्द्रिय-प्रवाह द्वारा भीतर में प्रवाहित होता है, तब उसे अर्थ कहते हैं। उसके बाद चित्त मे एक प्रतिक्रिया-प्रवाह आता है, उसे ज्ञान कहा जाता है। जिसे हम बाह्य वस्तु की अनुभूति कहते हैं, वह वस्तुत इन तीनो की समष्टि (सकीर्ण) मात्र है। हमने अब तक जितने प्रकार की समाधियों की बात सुनी है, उन सब मे यह समष्टि ही हमारे ध्यान का विषय होती है। इसके बाद जिस समाधि के बारे मे कहा जायगा, वह अपेक्षाकृत श्रेष्ठ है।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥४३॥

सूत्रार्थ—जब स्मृति शुद्ध हो जाती है, अर्थात् स्मृति में जब और किसी प्रकार के गुण का सम्पर्क नहीं रह जाता, जब वह केवल ध्येय वस्तु

का अर्थ मात्र प्रकाशित करती है, तब उसे निर्वितर्क अर्थात् वितर्कशून्य समाधि कहते हैं।

व्याख्या—पहले जिस शब्द, अर्थ और ज्ञान की बात कही गई है, उन तीनों का एक साथ अभ्यास करते-करते एक समय ऐसा आता है, जब वे और अधिक मिश्रित नहीं होते, तब हम अनायास ही इन त्रिविध भावों का अतिक्रमण कर सकते हैं। अब पहले हम यही समझने की विशेष चेष्टा करेंगे कि ये तीन क्या हैं। देखो, यह चित्त है। यह हमेशा याद रखना कि चित्त अर्थात् मनस्तत्त्व की उपमा सरोवर से दी गई है और शब्द या वाक्य अर्थात् वस्तु का कम्पन मानो उसके ऊपर एक प्रवाह के समान है। तुम्हारे अपने भीतर ही यह स्थिर सरोवर विद्यमान है। मान लो, मैंने 'गाय' शब्द का उच्चारण किया। ज्योंही वह तुम्हारे कान में प्रवेश करता है, त्योंही तुम्हारे चित्तरूपी सरोवर में एक प्रवाह उठा देता है। यह प्रवाह ही 'गाय' शब्द से सूचित भाव या अर्थ है। तुम जो सोचते हो कि मैं एक गाय को जानता हूँ, वह केवल तुम्हारे मन के भीतर रहनेवाली एक तरंग मात्र है। वह बाह्य एवं आभ्यन्तर शब्द-प्रवाह की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न होती है। उस शब्द के साथ वह प्रवाह भी नष्ट हो जाता है, वाक्य या शब्द के बिना प्रवाह रह ही नहीं सकता। तुम पूछ सकते हो कि जब हम गाय के बारे में केवल सोचते हैं, पर बाहर से कोई शब्द कानों में नहीं पहुँचता, तब भला शब्द कहाँ रहता है? उत्तर यह है कि तब वह शब्द तुम स्वयं करते हो। तब तुम अपने मन-ही-मन 'गाय' शब्द का धीरे-धीरे उच्चारण करते रहते हो, और बस उसी से तुम्हारे भीतर एक प्रवाह आ जाता है। शब्द के इस अन्तर्वेग के बिना कोई प्रवाह नहीं आ-

सकता, और जब यह अन्तर्वेग बाहर से नही आता, तब भीतर से ही आता है। शब्द के साथ ही प्रवाह का भी नाश हो जाता है। तब फिर बच क्या रहता है? तब उस प्रतिक्रिया का परिणाम भर बच रहता है। वही ज्ञान है। हमारे मन के अन्दर ये तीनो इतने दृढसम्बद्ध होकर है कि हम उन्हे अलग नही कर सकते। ज्योही शब्द आता है, त्योही इन्द्रियाँ कम्पित हो उठती है और प्रतिक्रिया के रूप में एक प्रवाह उठ जाता है। ये तीनो क्रियाएँ एक के बाद एक इतनी शीघ्रता से होती है कि उनमे एक को दूसरे से अलग करना अत्यन्त कठिन है। यहाँ जिस समाधि की बात कही गई है, उसका दीर्घकाल तक अभ्यास करने पर समस्त संस्कारो की आधारभूमि स्मृति शुद्ध हो जाती है, और तब हम उनमें से एक-दूसरे को अलग कर सकते हैं। इसी को निर्वितर्क समाधि कहते हैं।

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥४४॥

सूत्रार्थ—पूर्वोक्त दो सूत्रो में सवितर्क और निर्वितर्क जिन दो समाधियों की बात कही गई है, उन्हीं के द्वारा सूक्ष्मतर विषयवाली सविचार और निर्विचार समाधियों की भी व्याख्या कर दी गई है।

व्याख्या—यहाँ पहले के ही समान समझना चाहिए। भेद केवल इतना है कि पूर्वोक्त दोनो समाधियो के विषय स्थूल है और यहाँ वे विषय सूक्ष्म है।

सूक्ष्मविषयत्वं चालिंगपर्यवसानम् ॥४५॥

सूत्रार्थ—सूक्ष्म विषयों की अवधि प्रधान पर्यन्त है।

व्याख्या—पंच महाभूत और उनसे उत्पन्न समस्त वस्तुओं को स्थूल कहते है। सूक्ष्म वस्तु तन्मात्रा से शुरू होती है। इन्द्रिय, मन (अर्थात् साधारण इन्द्रिय—समस्त इन्द्रियो की

समष्टिस्वरूप), अहकार, महत्तत्त्व (जो समूचे व्यक्त जगत् का कारण है), सत्त्व, रज और तम की साम्यावस्थारूप प्रधान, प्रकृति या अव्यक्त—ये सभी सूक्ष्म वस्तु के अन्तर्गत है। केवल पुरुष अर्थात् आत्मा ही इसके भीतर नही आती।

ता एव सबीजः समाधिः ॥४६॥

सूत्रार्थ—ये सभी सबीज समाधि हैं।

व्याख्या—इन सब समाधियो मे पूर्वकर्मो का बीज नष्ट नही होता, अत उनसे मुक्ति प्राप्त नही होती। तो फिर उनसे होता क्या है? यह आगे के सूत्र मे बतलाया गया है।

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥४७॥

सूत्रार्थ—निर्विचार समाधि की निर्मलता होने पर चित्त की स्थिति दृढ़ हो जाती है।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥४८॥

सूत्रार्थ—उसमें जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है, उसे ऋतम्भर यानी सत्यपूर्ण ज्ञान कहते हैं।

व्याख्या—अगले सूत्र मे इसकी व्याख्या होगी।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥४९॥

सूत्रार्थ—जो ज्ञान विश्वस्त मनुष्यो के वाक्य और अनुमान से प्राप्त होता है, वह साधारण वस्तु विषयक होता है। जो सब विषय आगम और अनुमान से उत्पन्न ज्ञान के गोचर नहीं है, वे पूर्वोक्त समाधि द्वारा प्रकाशित होते हैं।

व्याख्या—तात्पर्य यह है कि हमें सामान्य वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव, उस पर स्थापित अनुमान और विश्वस्त मनुष्यो के वाक्यो से होता है। 'विश्वस्त मनुष्यो' से योगियों का तात्पर्य है 'ऋषिगण', और ऋषि का अर्थ है—वेद मे वर्णित

भावो के द्रष्टा, अर्थात् जो उन सब भावो का साक्षात्कार कर चुके है। उनके मत से, शास्त्रो का प्रामाण्य केवल यह है कि वे विश्वस्त मनुष्यो के वचन है। शास्त्र विश्वस्त मनुष्यो के वचन होने पर भी, वे कहते हैं कि केवल शास्त्र हमे सत्य का अनुभव कराने में कभी समर्थ नही है। हम भले ही सारे वेदो को पढ डाले, पर तो भी हो सकता है कि हमे किसी तत्त्व की अनुभूति न हो। पर जब हम उनमें वर्णित उपदेशो को अपने जीवन में उतारते है--उनके अनुसार कार्य करते है, तब हम ऐसी एक अवस्था में पहुँच जाते है, जिसमे शास्त्रोक्त बातो की प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है। जहाँ युक्ति, प्रत्यक्ष या अनुमान किसी की भी पहुँच नही, यह अवस्था वहाँ भी ले जाने मे समर्थ है; वहाँ आप्तवाक्य की भी कोई उपयोगिता नही। यही इस सूत्र का तात्पर्य है। प्रत्यक्ष उपलब्धि करना ही यथार्थ धर्म है, वही धर्म का सार है, और शेष सब—उदाहरणार्थ, धर्म सम्बन्धी भाषण सुनना, धार्मिक ग्रन्थो का पाठ करना, या विचार करना—उस रास्ते के लिए तैयारी मात्र है। वह यथार्थ धर्म नही है। केवल किसी मत के साथ बौद्धिक सहमति अथवा असहमति धर्म नही है। योगियो का मूल भाव यह है कि जैसे इन्द्रियो के विषयो के साथ हम लोगो का साक्षात् सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार धर्म भी प्रत्यक्ष किया जा सकता है, और इतना ही नही, बल्कि वह तो और भी उज्ज्वलतर रूप से अनुभूत हो सकता है। ईश्वर, आत्मा आदि जो सब धर्म के प्रतिपाद्य सत्य है, वे बहिरिन्द्रियो से प्रत्यक्ष नही हो सकते। मै आँखो से ईश्वर को नही देख सकता, या हाथ से उनका स्पर्श नही कर सकता। हम यह भी जानते हैं कि युक्ति-विचार हमें इन्द्रियो के अतीत नही ले जा सकता,

वह तो हमें सर्वथा एक अनिश्चित स्थल में छोड आता है। हम भले ही जीवन भर विचार करते रहे, जैसा कि दुनिया हजारों वर्षों से करती आ रही है, पर आखिर उसका फल क्या होता है? यही कि धर्म के सत्यो को प्रमाणित या अप्रमाणित करने में हम अपने को असमर्थ पाते है। हम जिसका इन्द्रियो से अनुभव करते है, उसी के आधार पर हम युक्ति, विचार आदि किया करते है। अत यह स्पष्ट है कि युक्ति को इन्द्रिय-अनुभव की इस चारदीवारी के भीतर ही चक्कर काटना पडता है; वह उसके बाहर कभी नही जा सकती। अतएव जो भी आध्यात्मिक तत्त्व हम अनुभव करेंगे, वह सभी हमारी इन्द्रियो के अतीत प्रदेश में होगा। योगीगण कहते है कि मनुष्य इन्द्रिय-अनुभुति और विचार-शक्ति दोनों का ही अतिक्रमण कर सकता है। मनुष्य में अपनी बुद्धि को भी लाँघ जाने की शक्ति है, और यह शक्ति प्रत्येक प्राणी मे, प्रत्येक जन्तु मे निहित है। योग के अभ्यास से यह शक्ति जागरित हो जाती है। और तब मनुष्य विचार का घेरा पार कर तर्क के अगम्य विषयों का साक्षात्कार करता है।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥५०॥

सूत्रार्थ—यह समाधिजात सस्कार दूसरे सब सस्कारो का प्रतिबन्धी होता है, अर्थात् दूसरे संस्कारों को फिर आने नहीं देता।

व्याख्या—हमने पहले के सूत्र में देखा है कि उस ज्ञानातीत भूमि पर जाने का एकमात्र उपाय है—एकाग्रता। हमने यह भी देखा है कि पूर्व सस्कार ही उस प्रकार की एकाग्रता पाने में हमारे प्रतिबन्धक हैं। तुम सबो ने गौर किया होगा कि ज्योही तुम लोग मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करते हो, त्योंही तुम्हारे अन्दर नाना प्रकार के विचार आने लगते है। ज्योही

ईश्वर-चिन्तन करने की चेष्टा करते हो, ठीक उसी समय ये सब सस्कार जाग उठते है। दूसरे समय वे उतने प्रबल नही रहते, किन्तु ज्योही तुम उन्हे भगाने की कोशिश करते हो, वे अवश्यमेव आ जाते है और तुम्हारे मन को बिलकुल आच्छादित कर देने का भरसक प्रयत्न करते है। इसका कारण क्या है ? इस एकाग्रता के अभ्यास के समय ही वे इतने प्रबल क्यो हो उठते है ? इसका कारण यही है कि तुम उनको दबाने की चेष्टा कर रहे हो। इसलिए वे अपने सारे बल से प्रतिक्रिया करते हैं। अन्य समय वे इस प्रकार अपनी ताकत नही लगाते। इन सब पूर्व सस्कारो की सख्या भी कितनी है! चित्त के किसी स्थान में वे चुपचाप बैठे रहते है और बाघ के समान झपटकर आक्रमण करने के लिए मानो हमेशा घात मे रहते है! उन सब को रोकना होगा, ताकि हम जिस भाव को मन में रखना चाहे, वही आए और दूसरे सब भाव चले जायें। पर ऐसा न होकर वे सब तो उसी समय आने का प्रयत्न करते है। मन की एकाग्रता मे बाधा देनेवाली ये ही सस्कारो की विभिन्न शक्तियाँ है। अतएव जिस समाधि की बात अभी कही गई है, उसका अभ्यास सबसे उत्तम है, क्योकि वह उन सस्कारो को रोकने में समर्थ है। इस समाधि के अभ्यास से जो सस्कार उत्पन्न होगा, वह इतना शक्तिमान होगा कि वह अन्य सब सस्कारो का कार्य रोककर उन्हे वशीभूत करके रखेगा।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥५१॥

सूत्रार्थ—उसका भी (अर्थात् जो सस्कार अन्य सभी सस्कारो को रोक देता है) निरोध हो जाने पर, सबका निरोध हो जाने के कारण, निर्बीज समाधि (हो जाती है)।

व्याख्या—तुम लोगो को यह अवश्य स्मरण है कि

हमारे जीवन का चरम लक्ष्य है—इस आत्मा की साक्षात् उपलब्धि करना। हम लोग आत्मा की उपलब्धि नही कर पाते, क्योकि यह आत्मा प्रकृति, मन और शरीर के साथ मिश्रित हो गई है। अत्यन्त अज्ञानी मनुष्य अपने शरीर को ही आत्मा समझता है। उसकी अपेक्षा कुछ उन्नत मनुष्य मन को ही आत्मा समझता है। किन्तु दोनो ही भूल मे हैं। अच्छा, आत्मा इन सब उपाधियों के साथ कैसे मिश्रित हो जाती है? चित्त में ये नाना प्रकार की लहरे (वृत्तियाँ) उठकर आत्मा को आच्छादित कर लेती है, और हम इन लहरो में से आत्मा का कुछ प्रतिबिम्ब मात्र देख पाते है। यही कारण है कि जब क्रोध-वृत्तिरूप लहर उठती है, तो हम आत्मा को क्रोधयुक्त देखते है, कहते है कि हम क्रुद्ध हुए हैं, जब चित्त में प्रेम की लहर उठती है, तो उस लहर में अपने को प्रतिबिम्बित देखकर हम सोचते है कि हम प्यार कर रहे है। जब दुर्बलता-रूप वृत्ति उठती है और आत्मा उसमे प्रतिबिम्बित हो जाती है, तो हम सोचते है कि हम कमजोर हैं। ये सब पूर्व-संस्कार जब आत्मा के स्वरूप को आच्छादित कर लेते है, तभी इस प्रकार के विभिन्न भाव उदित होते रहते है। चित्तरूपी सरोवर में जब तक एक भी लहर रहेगी, तब तक आत्मा का यथार्थ स्वरूप दिखाई नही देगा। जब तक समस्त लहरे बिलकुल शान्त नही हो जाती, तब तक आत्मा का प्रकृत स्वरूप कभी प्रकाशित नही होगा। इसीलिए पतजलि ने पहले यह समझाया है कि ये प्रवाहरूप वृत्तियाँ क्या हैं और बाद में उनको दमन करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय सिखलाया है। और तीसरी बात यह सिखलाई है कि जैसे एक बृहत् अग्निराशि छोटे-छोटे अग्निकणों

को निगल लेती है, उसी प्रकार एक लहर को इतनी प्रबल बनाना होगा, जिससे अन्य सब लहरें बिलकुल लुप्त हो जायँ। जब केवल एक ही लहर बच रहेगी, तब उसका भी निरोध कर देना सहज हो जायगा। और जब वह भी चली जाती है, तब उस समाधि को निर्बीज समाधि कहते हैं। तब और कुछ भी नहीं बच रहता और आत्मा अपने स्वरूप में, अपनी महिमा में प्रकाशित हो जाती है। तभी हम जान पाते हैं कि आत्मा मिश्र पदार्थ नहीं है, संसार में एकमात्र वही नित्य अमिश्र पदार्थ है, अतएव उसका जन्म भी नहीं है और मृत्यु भी नहीं—वह अमर है, अविनश्वर है, नित्य चैतन्यघन सत्तास्वरूप है।

द्वितीय अध्याय

साधनपाद

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥१॥

सूत्रार्थ—तपस्या, अध्यात्मशास्त्रो के पठन-पाठन और ईश्वर में समस्त कर्मफलो के समर्पण को क्रियायोग कहते हैं।

व्याख्या—पिछले अध्याय मे जिन सब समाधियों की बात कही गई है, उन्हें प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। इसलिए हमे धीरे-धीरे—विभिन्न सोपानो मे से होते हुए उन सब समाधियों को प्राप्त करने का प्रयत्न करना होगा। इसके पहले सोपान को क्रियायोग कहते है। इसका शब्दार्थ है—कर्म के सहारे योग की ओर बढना। हमारी देह मानो एक रथ है, इन्द्रियाँ घोडे है, मन लगाम है, बुद्धि सारथि है और आत्मा रथी है। यह गृहस्वामी, यह राजा, यह मनुष्य की आत्मा रथ में सवार है। यदि घोड़े बडे तेज हो और लगाम खिची न रहे, यदि बुद्धिरूपी सारथी उन घोडो को सयत करना न जाने, तो रथ की दुर्दशा हो जायगी। पर यदि इन्द्रियरूपी घोडे अच्छी तरह से संयत रहे और मनरूपी लगाम बुद्धिरूपी सारथी के हाथो अच्छी तरह थमी रहे, तो वह रथ ठीक अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता है। अब यह समझ में आ जायगा कि इस तपस्या शब्द का अर्थ क्या है। तपस्या शब्द का अर्थ है—इस शरीर और इन्द्रियो को चलाते समय लगाम अच्छी तरह थामे रहना, उन्हे अपनी इच्छानुसार काम न करने देकर अपने वश में किए रहना। उसके बाद है पठन-पाठन या स्वाध्याय। यहाँ पाठ का तात्पर्य क्या है? नाटक, उपन्यास या कहानी की

पुस्तक का पाठ नही, वरन् उन ग्रन्थो का पाठ, जो यह शिक्षा देते है कि आत्मा की मुक्ति कैसे होती है। फिर स्वाध्याय से तर्क या विचारात्मक पुस्तक का पाठ नही समझना चाहिए।' जो योगी है, वे तो विचार आदि करके तृप्त हो चुके रहते है, विचार मे उनकी और कोई रुचि नही रह जाती। वे पठन-पाठन करते है केवल अपनी धारणाओ को दृढ करने के लिए।' शास्त्रीय ज्ञान दो प्रकार के है। एक है वाद (जो तर्क-युक्ति और विचारात्मक है), और दूसरा है सिद्धान्त (मीमासात्मक)।' अज्ञानावस्था मे मनुष्य प्रथमोक्त प्रकार के शास्त्रीय ज्ञान के अनुशीलन में प्रवृत्त होता है, वह तर्क-युद्ध के समान है—प्रत्येक वस्तु के सब पहलू देखकर विचार करना, इस विचार का अन्त होने पर वह किसी एक मीमासा या सिद्धान्त पर पहुँचता है।' किन्तु केवल सिद्धान्त पर पहुँचने से नही हो जाता। इस सिद्धान्त के बारे मे मन की धारणा को दृढ करना होगा। शास्त्र तो अनन्त है और समय अल्प है, अत ज्ञान-प्राप्ति का रहस्य है—सब वस्तुओ का सार भाग ग्रहण करना। उस सार भाग को ग्रहण करो और उसे अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करो। भारतवर्ष में एक पुरानी किम्वदन्ती है कि यदि तुम किसी राजहस के सामने एक कटोरा भर पानी मिला हुआ दूध रख दो तो वह दूध-दूध पी लेगा और पानी छोड देगा। उसी प्रकार ज्ञान का जो अश आवश्यक है, उसे लेकर असार भाग को हमें फेंक देना चाहिए। पहले-पहल बुद्धि की कसरत आवश्यक होती है। अन्धे के समान कुछ भी ले लेने से नही बनता। पर जो योगी है, वे इस तर्क-युक्ति की अवस्था को पार कर एक ऐसे सिद्धान्त पर पहुँच चुके है, जो पर्वत के समान अचल-अटल

है। इसके बाद उनका सारा प्रयत्न उस सिद्धान्त के दृढ करने में होता है। ये कहते है, तर्क मत करो, यदि कोई तुम्हे तर्क करने को बाध्य करे, तो चुप रहो। किसी तर्क का जवाब न देकर शान्त-भाव से वहाँ से चले जाओ, क्योकि तर्क द्वारा मन केवल चचल ही होता है। तर्क की आवश्यकता थी केवल बुद्धि को तेज करने के लिए, जब वह सम्पन्न हो चुका, तब और उसे बेकार चंचल करने की क्या जरूरत? बुद्धि तो एक दुर्बल यन्त्र मात्र है, वह हमें केवल इन्द्रियो के घेरे मे रहनेवाला ज्ञान दे सकता है। पर योगी का उद्देश्य है इन्द्रियातीत प्रदेश में चले जाना, अतएव उनके लिए बुद्धि चलाने की और कोई आवश्यकता नही रह जाती। उन्हे इस विषय मे पक्का विश्वास हो चुका है, अतएव वे और अधिक तर्क नही करते, चुपचाप रहते है; क्योकि तर्क करने मे मन समता से च्युत हो जाता है, चित्त में एक हलचल मच जाती है, और चित्त की ऐसी हलचल उनके लिए एक विघ्न ही है। यह सब तर्क, युक्ति या विचारपूर्वक तत्त्व का अन्वेषण केवल प्रारम्भिक अवस्था के लिए है। इस तर्क-युक्ति के अतीत और भी उच्चतर तत्त्वसमूह हैं। सारे जीवन भर केवल विद्यालय के बच्चो के समान विवाद या विचार-समिति लेकर ही रहना पर्याप्त नही है। ईश्वर मे कर्मफल अर्पण करने का तात्पर्य है—कर्म के लिए स्वय कोई प्रशसा या निन्दा न लेकर इन दोनों को ही ईश्वर को समर्पण कर देना और शान्ति से रहना।

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥२॥

सूत्रार्थ—समाधि की सिद्धि के लिए और क्लेशजनक विघ्नो को क्षीण करने के लिए (इस क्रियायोग की आवश्यकता है)।

व्याख्या—हममे से अनेको ने मन को लाड-प्यार के लडके के समान कर डाला है। वह जो कुछ चाहता है, उसे वही दे दिया करते है। इसीलिए क्रियायोग का सतत अभ्यास आवश्यक है, जिससे मन को सयत करके अपने वश मे लाया जा सके। इस सयम के अभाव मे ही योग के सारे विघ्न उपस्थित होते है और उनसे फिर क्लेश की उत्पत्ति होती है। उन्हे दूर करने का उपाय है—क्रियायोग द्वारा मन को वशीभूत कर लेना, उसे अपना कार्य न करने देना।

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥३॥

सूत्रार्थ—अविद्या, अस्मिता (अहकार), राग, द्वेष और अभिनिवेश (जीवन के प्रति ममता)—(ये पाँचों) क्लेश है।

व्याख्या—ये ही पचक्लेश है, ये पाँच बन्धनो के समान हमे इस ससार मे बाँध रखते हैं। अविद्या ही शेष चार क्लेशों की जननीस्वरूप है। यह अविद्या ही हमारे दु ख का एकमात्र कारण है। भला और किसकी शक्ति है, जो हमें इस प्रकार दु ख में रख सके? आत्मा तो नित्य आनन्दस्वरूप है। उसे अज्ञान—भ्रम—माया के सिवाय और कौन दु खी कर सकता है? आत्मा के ये समस्त दु ख केवल भ्रम मात्र है।

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥४॥

सूत्रार्थ—अविद्या ही उन शेष चार का उत्पादक क्षेत्रस्वरूप है। वे कभी लीनभाव से, कभी सूक्ष्मभाव से, कभी अन्य वृत्ति के द्वारा विच्छिन्न अर्थात् अभिभूत होकर और कभी प्रकाशित होकर रहते हैं।

व्याख्या—अविद्या ही अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश का कारण है। ये सस्कारसमूह विभिन्न मनुष्यो के मन में विभिन्न अवस्थाओ में रहते हैं। कभी-कभी वे प्रसुप्त रूप से

रहते हैं। तुम लोग अनेक समय 'शिशु के समान भोला'—यह वाक्य सुनते हो; परन्तु सम्भव है, इस शिशु के भीतर ही देवता या असुर का भाव विद्यमान हो, जो धीरे-धीरे समय पाकर प्रकाशित होगा। योगी में पूर्व कर्मों के फलस्वरूप ये संस्कार सूक्ष्म भाव से रहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वे अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था मे रहते हैं और योगीगण उन्हे दबाकर रख सकते हैं। उनमें उन सस्कारो को प्रकाशित न होने देने की शक्ति रहती है। कभी-कभी कुछ प्रबल सस्कार अन्य कुछ संस्कारो को कुछ समय तक के लिए दबाकर रखते हैं, किन्तु ज्योही वह दबा रखनेवाला कारण चला जाता है, त्योही वे पहले के सस्कार फिर से उठ जाते हैं। इस अवस्था को विच्छिन्न कहते हैं। अन्तिम अवस्था का नाम है उदार। इस अवस्था मे सस्कार-समूह अनुकूल परिस्थितियो का सहारा पाकर बडे प्रबल भाव से शुभ या अशुभ रूप से कार्य करते रहते है।

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥५॥

सूत्रार्थ—अनित्य, अपवित्र, दु.खकर और आत्मा से भिन्न पदार्थ में (क्रमशः) नित्य, पवित्र, सुखकर और आत्मा की प्रतीति 'अविद्या' है।

व्याख्या—इन समस्त सस्कारो का एकमात्र कारण है अविद्या। हमें पहले यह जान लेना होगा कि यह अविद्या क्या है। हम सभी सोचते है, "मै शरीर हूँ—शुद्ध, ज्योतिर्मय, नित्य, आनन्दस्वरूप आत्मा नही।" यह अविद्या है। हम लोग मनुष्य को शरीर के रूप मे ही देखते और जानते है। यह महान् भ्रम है।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवास्मिता ॥६॥

सूत्रार्थ—दृक्-शक्ति और दर्शन-शक्ति का एकीभाव ही अस्मिता है।

व्याख्या—आत्मा ही यथार्थ द्रष्टा है; वह शुद्ध, नित्य-

पवित्र, अनन्त और अमर है। और दर्शन-शक्ति अर्थात् उसके व्यवहार मे आनेवाले यन्त्र कौन-कौनसे है ? चित्त, बुद्धि अर्थात् निश्चयात्मिका वृत्ति, मन और इन्द्रियाँ—ये उसके यन्त्र है। ये सब बाह्य जगत् को देखने के लिए उसके यन्त्रस्वरूप हैं, और उसकी इन सब के साथ एकरूपता को अस्मितारूप अविद्या कहते है। हम कहा करते है, 'मै चित्तवृत्ति हूँ', 'मै क्रुद्ध हुआ हूँ', 'मै सुखी हूँ'। पर सोचो तो सही, हम कैसे क्रुद्ध हो सकते हैं, कैसे किसी के प्रति घृणा कर सकते हैं ? आत्मा के साथ हमे अपने को अभिन्न समझना चाहिए। आत्मा का तो कभी परिणाम नही होता। यदि आत्मा अपरिणामी हो, तो वह कैसे इस क्षण सुखी, और दूसरे ही क्षण दुःखी हो सकती है ? वह निराकार, अनन्त और सर्वव्यापी है। उसे कौन परिणामी बना सकता है? आत्मा सर्व प्रकार के नियमो के अतीत है। उसे कौन विकृत कर सकता है? ससार में कोई भी, आत्मा पर किसी प्रकार का कार्य नही कर सकता।' तो भी हम लोग अज्ञानवश अपने आप को मनोवृत्ति के साथ एकरूप कर लेते हैं और सोचा करते है कि हम सुख या दुःख का अनुभव कर रहे है।

सुखानुशयी रागः ॥७॥

सूत्रार्थ—जो मनोवृत्ति केवल सुखकर पदार्थ के ऊपर रहना चाहती है, उसे राग कहते हैं।

व्याख्या—हम किसी-किसी विषय मे सुख पाते है। जिसमें हम सुख पाते है, मन एक प्रवाह के समान उसकी ओर दौडता रहता है। सुख-केन्द्र की ओर दौडनेवाले मन के इस प्रवाह को ही राग या आसक्ति कहते हैं। हम जिस विषय मे सुख नहीं पाते, उधर हमारा मन कभी भी आकृष्ट नही होता। हम लोग

कभी-कभी नाना प्रकार की विचित्र चीजों में सुख पाते हैं, तो भी राग की जो परिभाषा दी गई है, वह सर्वत्र ही लागू होती है। हम जहाँ सुख पाते है, वही आकृष्ट हो जाते हैं।

दुःखानुशयी द्वेषः ॥८॥

सूत्रार्थ—दुःखकर वस्तु पर पुन:-पुनः स्थितिशील एक विशेष अन्त:करण-वृत्ति को द्वेष कहते हैं।

व्याख्या—जिसमें हम दुःख पाते है, उसे तत्क्षण त्याग देने का प्रयत्न करते हैं।

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥९॥

सूत्रार्थ—जो (पहले के मृत्यु के अनुभवों से) स्वभावत चला आ रहा है एवं जो विवेकशील पुरुषों में भी विद्यमान देखा जाता है, वह अभिनिवेश अर्थात् जीवन के प्रति ममता है।

व्याख्या—जीवन के प्रति यह ममता जीवमात्र मे प्रकट रूप से देखी जाती है। इस पर उत्तर-काल सम्बन्धी बहुत से मतो को स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। मनुष्य ऐहिक जीवन से इतना प्यार करता है कि उसकी यह आकाक्षा रहती है कि वह भविष्य में भी जीवित रहे। यह कहने की आवश्यकता नही कि इस युक्ति का कोई विशेष मूल्य नही है—पर इसमें सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह है कि पाश्चात्यो के मतानुसार इस जीवन के प्रति ममता से भविष्य-जीवन की जो सम्भावना सूचित होती है, वह केवल मनुष्य के बारे में सत्य है, दूसरे प्राणियो के बारे मे नही। भारत में, पूर्वसंस्कार और पूर्वजीवन को प्रमाणित करने के लिए यह अभिनिवेश एक युक्तिस्वरूप हुआ है। मान लो, यदि समस्त ज्ञान हमे प्रत्यक्ष अनुभूति से प्राप्त हुए हों, तो यह निश्चित है कि हमने जिसका कभी प्रत्यक्ष-अनुभव नही किया,

उसकी कल्पना भी कभी नही कर सकते, अथवा उसे समझ भी नही सकते। मुरगी के बच्चे अण्डे में से बाहर आते ही दाना चुगना आरम्भ कर देते हैं। बहुधा ऐसा भी देखा गया है कि यदि कभी मुरगी के द्वारा बतक का अण्डा सेया गया, तो बतक का बच्चा अण्डे मे से बाहर आते ही पानी मे चला गया, और उसकी मुरगी-माँ इधर सोचती है कि शायद बच्चा पानी में डूब गया। यदि प्रत्यक्ष-अनुभूति ही ज्ञान का एकमात्र उपाय हो, तो इन मुरगी के बच्चो ने कहाँ से दाना चुगना सीखा? अथवा बतक के इन बच्चो ने यह कैसे जाना कि पानी उनका स्वाभाविक स्थान है? यदि तुम कहो कि वह सहज प्रेरणा (instinct) मात्र है, तो उससे कुछ भी बोध नही होता, वह तो केवल एक शब्द का प्रयोग मात्र हुआ—वह कोई स्पष्टीकरण तो है नही। यह सहज प्रेरणा क्या है? हम लोगो में भी ऐसी बहुतसी सहज प्रेरणाएँ है। उदाहरणार्थ, आपमे से अनेक महिलाएँ पियानो बजाती है, आपको यह अवश्य स्मरण होगा, जब आपने पहले-पहल पियानो सीखना आरम्भ किया था, तब आपको सफेद और काले परदो में, एक के बाद दूसरे में कितनी सावधानी के साथ उँगलियाँ रखनी पडती थी, किन्तु कुछ वर्षो के अभ्यास के बाद अब शायद आप किसी मित्र के साथ बातचीत भी कर सकती हैं और साथ ही आपकी उँगलियाँ भी पियानो पर अपने आप चलती रहती है। अर्थात् वह अब आप लोगो की सहज प्रेरणा मे परिणत हो गया है—वह आप लोगो के लिए अब पूर्ण रूप से स्वाभाविक हो गया है। हम जो अन्य सब कार्य करते हैं, उनके बारे मे भी ठीक ऐसा ही है। अभ्यास से वह सब सहज प्रेरणा में परिणत हो जाता है, स्वाभाविक हो जाता है। और

जहाँ तक हम जानते हैं, आज जिन क्रियाओं को हम स्वाभाविक या सहज प्रेरणा से उत्पन्न कहते है, वे सब पहले विचारपूर्वक ज्ञान की क्रियाएँ थी और अब निम्नभावापन्न होकर इस प्रकार स्वाभाविक हो पडी हैं। योगियो की भाषा मे, सहज ज्ञान या सहज प्रेरणा विचार की निम्नभावापन्न क्रमसकुचित अवस्था मात्र है। विचार-जनित ज्ञान अवनतभावापन्न होकर स्वाभाविक सस्कार के रूप मे परिणत हो जाता है। अतएव यह बात पूर्णरूपेण युक्तिसगत है कि हम इस जगत् में जिसे सहज प्रेरणा कहते है, वह विचार-जनित ज्ञान की निम्नावस्था मात्र है। पर चूंकि यह विचार प्रत्यक्ष-अनुभूति बिना नही हो सकता, इसलिए समस्त सहज प्रेरणाएँ पहले की प्रत्यक्ष-अनुभूतियो के फल हैं। मुरगी के बच्चे चील से डरते हैं, बतक के बच्चे पानी पसन्द करते हैं, ये दोनो पहले की प्रत्यक्ष-अनुभूतियो के फलस्वरूप है। अब प्रश्न यह है कि यह अनुभूति जीवात्मा की है, अथवा केवल शरीर की ? बतक अभी जो कुछ अनुभव कर रही है, वह उस बतक के पूर्वजो की अनुभूति से आया है, अथवा वह उसकी अपनी प्रत्यक्ष-अनुभूति है ? आधुनिक वैज्ञानिक कहते है, वह केवल उसके शरीर का धर्म है, पर योगीगण कहते है कि वह मन की अनुभूति है और वह शरीर के भीतर से होकर आ रही है। इसी को पुनर्जन्मवाद कहते हैं।

हमने पहले देखा है कि हमारा समस्त ज्ञान—प्रत्यक्ष, विचारजनित या सहज—एकमात्र प्रत्यक्ष-अनुभूतिरूप ज्ञान की प्रणाली से होकर ही आ सकता है; और जिसे हम सहज ज्ञान या सहज प्रेरणा कहते है, वह हमारी पूर्व प्रत्यक्ष-अनुभूति का फल है, वह पूर्व अनुभूति ही आज अवनतभावापन्न होकर सहज

प्रेरणा के रूप मे परिणत हो गई है और यह सहज प्रेरणा फिर से विच.रजनित ज्ञान मे परिणत हो जाती है। सारे ससार भर में यही क्रिया चल रही है। इस पर ही भारत में पुनर्जन्मवाद की एक प्रधान युक्ति स्थापित हुई है। पूर्वानुभूत वहुतसे भय के सस्कार कालान्तर में इस जीवन के प्रति ममता के रूप में परिणत हो जाते है। यही कारण है कि वालक विलकुल वचपन से ही अपने आप डरता रहता है, क्योकि उसके मन में दु ख का पूर्व अनुभूतिजनित सस्कार विद्यमान है। अत्यन्त विद्वान् मनुष्यो मे भी—जो जानते है कि यह शरीर एक दिन चला जायगा, जो कहते है कि 'आत्मा की मृत्यु नही, हमारे तो सैकडो शरीर है, अतएव भय किस वात का'—ऐसे विद्वान् पुरुषो मे भी, उनकी सारी विचारजनित धारणाओ के वावजूद भी हम इस जीवन के प्रति प्रगाढ ममता देखते है। जीवन के प्रति यह ममता कहाँ से आई? हमने देखा है कि यह हमारे लिए सहज या स्वाभाविक हो गई है। योगियो की दार्शनिक भाषा में कह सकते हैं कि वह सस्कार के रूप में परिणत हो गई है। ये सारे सस्कार सूक्ष्म (तनु) और गुप्त (प्रसुप्त) होकर मन के भीतर मानो सोए हुए पडे है। मृत्यु के ये सब पूर्व अनुभव— वह सब जिसे हम सहज प्रेरणा या सहज ज्ञान कहते है—मानो अवचेतन अर्थात् ज्ञान की निम्न भूमि में पहुँच गए है। वे चित्त में ही वास करते हैं। वे वहाँ निष्क्रिय रूप से अवस्थान करते हो, ऐसी वात नही, वरन् भीतर-ही-भीतर कार्य करते रहते हैं।

स्थूल रूप में प्रकाशित चित्तवृत्तियो को हम समझ सकते है और उनका अनुभव कर सकते हैं, उनका दमन अधिक सुगमता से किया जा सकता है। पर इन सव सूक्ष्मतर सस्कारो का

दमन कैसे होगा ? उन्हे कैसे दबाया जाय ? जब मै क्रुद्ध होता हूँ, तब मेरा सारा मन मानो क्रोध की एक बड़ी तरग में परिणत हो जाता है । मै वह अनुभव कर सकता हूँ, उसे देख सकता हूँ, उसे मानो हाथ मे लेकर हिला-डुला सकता हूँ, उसके साथ अनायास ही, जो इच्छा हो वही कर सकता हूँ, उसके साथ लडाई कर सकता हूँ, पर यदि मै मन के अत्यन्त गहरे प्रदेश मे न जा सकूँ, तो कभी भी मै उसे जड से उखाडने में सफल न हो सकूँगा। कोई मुझे दो कड़ी बाते सुना देता है, और मैं अनुभव करता हूँ कि मेरा खून गरम होता जा रहा है । उसके और भी कुछ कहने पर मेरा खून उबल उठता है और मै अपने आपे से बाहर हो जाता हूँ, क्रोध-वृत्ति के साथ मानो अपने को एक कर लेता हूँ । जब उसने मुझे सुनाना आरम्भ किया था, उस समय मुझे अनुभव हो रहा था कि मुझमे क्रोध आ रहा है । उस समय क्रोध अलग था और मैं अलग; किन्तु जब मै क्रुद्ध हो उठा, तो मै ही मानो क्रोध में परिणत हो गया । इन वृत्तियों को जड से—उनकी सूक्ष्मावस्था से ही उखाड़ना पड़ेगा, वे हमारे ऊपर कार्य कर रही है, यह समझने के पहले ही उन पर सयम करना पडेगा। ससार के अधिकतर मनुष्यो को तो इन वृत्तियो की सूक्ष्मावस्था के अस्तित्व तक का पता नही । जिस अवस्था मे ये वृत्तियाँ अवचेतन अर्थात् ज्ञान की निम्न भूमि से थोड़ी-थोडी करके उदित होती हैं, उसी को वृत्ति की सूक्ष्मावस्था कहते है । जब किसी सरोवर की तली से एक बुलबुला ऊपर उठता है, तब हम उसे देख नही पाते; केवल इतना ही नही, जब वह सतह के बिलकुल नजदीक आ जाता है, तब भी हम उसे देख नही पाते, पर जब वह ऊपर उठकर फट जाता है और एक लहर फैला देता है, तभी हम उसका

अस्तित्व जान पाते है। इसी प्रकार जब हम इन वृत्तियों को उनकी सूक्ष्मावस्था मे ही पकड सकेंगे, तभी हम उन्हे रोकने में समर्थ हो सकेंगे। उनके स्थूल रूप धारण करने के पहले ही यदि हम उनको पकड न सके, उनको सयत न कर सके, तो फिर किसी भी वासना पर सम्पूर्ण रूप से जय प्राप्त कर सकने की आशा नही। वासनाओ को सयत करने के लिए हमें उनके मूल में जाना पडेगा। तभी हम उनके बीज तक को दग्ध कर डालने में सफल होगे। जैसे भूने हुए बीज जमीन मे बो देने पर फिर अकुरित नहीं होते, उसी प्रकार ये वासनाएँ भी फिर कभी उदित न होगी।

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥१०॥

सूत्रार्थ—उन सूक्ष्म सस्कारो को प्रतिप्रसव यानी प्रतिलोम-परिणाम के द्वारा (अर्थात् चित्त को अपने कारण में विलीन करने के साधन द्वारा) नाश करना पडता है।

व्याख्या—ध्यान के द्वारा जब चित्तवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, तब जो बच रहता है, उसे सूक्ष्म सस्कार या वासना कहते है। उसको नष्ट करने का उपाय क्या है? उसे प्रतिप्रसब अर्थात् प्रतिलोम-परिणाम के द्वारा नष्ट करना पडता है। प्रतिलोम-परिणाम का अर्थ है—कार्य का कारण मे लय। चित्तरूप कार्य जब समाधि के द्वारा अस्मितारूप अपने कारण मे लीन हो जाता है, तभी चित्त के साथ ये सब सस्कार भी नष्ट हो जाते हैं।

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥११॥

सूत्रार्थ—ध्यान के द्वारा उनकी (स्थूल) वृत्तियाँ नष्ट करनी पड़ती है।

व्याख्या—ध्यान ही इन बडी तरगो की उत्पत्ति को रोकने का एक प्रधान उपाय है। ध्यान के द्वारा मन की ये वृत्तिरूप

लहरें दब जाती हैं। यदि तुम दिन-पर-दिन, मास-पर-मास, वर्ष-पर-वर्ष, इस ध्यान का अभ्यास करो— जब तक वह तुम्हारे स्वभाव में न भिद जाय, जब तक तुम्हारे इच्छा न करने पर भी वह ध्यान आप-से-आप न आने लगे—तो क्रोध, घृणा आदि वृत्तियाँ संयत हो जायँगी।

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥१२॥

सूत्रार्थ—कर्मसंस्कारों के समुदाय की जड़ ये सब पूर्वोक्त क्लेश ही हैं; वर्तमान या भविष्य में होने वाले जीवन में वे फल प्रसव करते हैं।

व्याख्या—कर्माशय का अर्थ है इन संस्कारों की समष्टि। हम जो भी कार्य करते हैं, वह मानस-सरोवर में एक लहर उठा देता है। हम सोचते हैं कि इस काम के समाप्त होते ही वह लहर भी चली जायगी, पर वास्तव में वैसा नहीं होता। वह तो बस सूक्ष्म आकार भर धारण कर लेती है, पर रहती वहीं है। जब हम उस कार्य को स्मरण में लाने का प्रयत्न करते हैं, त्योंही वह फिर से उठ आती है और लहर-रूप धारण कर लेती है। इससे यह स्पष्ट है कि वह मन के ही भीतर छिपी हुई थी, यदि ऐसा न होता, तो स्मृति ही सम्भव न होती। अतएव हर एक काम, हर एक विचार, वह चाहे शुभ हो चाहे अशुभ, मन के सबसे गहरे प्रदेश में जाकर सूक्ष्मभाव धारण कर लेता है और वहीं सञ्चित रहता है। सुखकर या दुःखकर सभी प्रकार के विचार को क्लेश कहते हैं, क्योंकि योगियों के मतानुसार दोनों से ही अन्त में दुःख उत्पन्न होता है। इन्द्रियों से जो सब सुख मिलते हैं, वे अन्त में दुःख ही लाते हैं, क्योंकि भोग से और अधिक भोग की तृष्णा होती है और इसका अनिवार्य फल होता है—दुःख। मनुष्य की वासना का कोई अन्त नहीं, वह लगातार वासना-पर-

वासना रचता जाता है और जब ऐसी अवस्था मे पहुँचता है, जहाँ उसकी वासना पूर्ण नही होती, तो फल होता है—दुःख। इसीलिए योगीगण शुभ-अशुभ समस्त सस्कारो की समष्टि को क्लेश कहते है, वे सब आत्मा की मुक्ति मे बाधक होते हैं।

हमारे सारे कार्यो के सूक्ष्म मूलस्वरूप सस्कारो के बारे में भी ऐसा ही समझना चाहिए। वे कारणस्वरूप होकर इहजीवन अथवा परजीवन मे फल प्रसव करते है। विशेष स्थलो मे ये सस्कार, विशेष प्रबल रहने के कारण, बहुत शीघ्र अपना फल दे देते है, अत्युत्कट पुण्य या पाप कर्म इहजीवन मे ही अपना फल सामने ला देता है। योगीगण कहते है कि जो मनुष्य इहजीवन में ही अत्यन्त प्रबल शुभ सस्कार उपार्जन कर सकते है, उन्हे मृत्यु तक बाट जोहने की आवश्यकता नही होती, वे तो इसी जीवन में अपने शरीर को देव-शरीर में परिणत कर सकते हैं। योगियो के ग्रन्थो में इस प्रकार के कई दृष्टान्तो का उल्लेख मिलता है। ये व्यक्ति अपने शरीर के उपादान तक को बदल डालते है। ये लोग अपने शरीर के परमाणुओ को ऐसे नए ढग से ठीक कर लेते हैं कि उनको फिर और कोई बीमारी नही होती, और हम लोग जिसे मृत्यु कहते है, वह भी उनके पास नही फटक सकती। ऐसी घटना न होने का तो कोई कारण नही है। शारीरविधानशास्त्र खाद्य का अर्थ बतलाते है—सूर्य से शक्ति-ग्रहण। वह शक्ति पहले वनस्पति में प्रवेश करती है, उस वनस्पति को कोई पशु खा लेता है, फिर उस पशु को कोई मनुष्य। इसे वैज्ञानिक भाषा मे व्यक्त करना हो, तो कहना पडेगा कि हमने सूर्य से कुछ शक्ति ग्रहण करके उसे अपने अगीभूत कर लिया। यदि यही बात हो, तो इस शक्ति

को अपने अन्दर लेने के लिए केवल एक ही तरीका क्यो रहना चाहिए ? पौधे हमारी तरह शक्तिग्रहण नही करते; और हम जिस प्रकार शक्ति सग्रह करते हैं, धरती उस प्रकार नही करती। पर तो भी सभी किसी-न-किसी प्रकार से शक्तिसग्रह करते ही है। योगियो का कहना है कि वे केवल मन की शक्ति के द्वारा शक्तिसग्रह कर सकते हैं। वे कहते हैं कि हम बिना किसी साधारण उपाय का अवलम्बन किए ही यथेच्छ शक्ति भीतर ले सकते हैं। जैसे एक मकडी अपने ही उपादान से जाला बनाकर उसमे बद्ध हो जाती है और जाले के तन्तुओ का सहारा लिए बिना कही नही जा सकती, उसी प्रकार हमने भी अपने ही उपादान से इस स्नायु-जाल की सृष्टि की है और अब उस स्नायु-प्रणाली का बिना अवलम्बन किए कोई काम ही नही कर सकते। योगी कहते है, हम क्यो उसमे बद्ध हो ?

इस तत्व को और एक उदाहरण देकर समझाया जा सकता है। हम पृथ्वी के किसी भी भाग में विद्युत्-शक्ति भेज सकते हैं, पर उसके लिए हमे तार की जरूरत पड़ती है। किन्तु प्रकृति तो बिना तार के ही बडे परिमाण मे यह शक्ति भेजती रहती है। हम भी वैसा क्यों न कर सकेगे ? हम चारो ओर मानस-विद्युत् भेज सकते है। हम जिसे मन कहते हैं, वह बहुत कुछ विद्युत्-शक्ति के ही सदृश है। स्नायु के बीच मे जो एक तरल पदार्थ प्रवाहित होता है, उसमे बडे परिमाण मे विद्युत्-शक्ति है, इसमें कोई सन्देह नही, क्योकि विद्युत् के समान उसके भी दोनो ओर विपरीत शक्तिद्वय दिखाई पडती है, तथा वद्युत् के अन्यान्य सब धर्म उसनें भी देखे जाते है। इस विद्युत् शक्ति को अभी हम केवल स्नायुओ में से ही प्रवाहित कर सकते

है। पर बात यह है कि स्नायुओ की सहायता लिए बिना ही हम इसे क्यो नही प्रवाहित कर सकेगे ? योगी कहते है, हाँ, यह पूरी तरह से सम्भव है, और सम्भव ही नही, वरन् इसे कार्य में भी परिणत किया जा सकता है। और जब तुम इसमे कृत-कार्य हो जाओगे, तब सारे ससार भर मे अपनी इस शक्ति को परिचालित करने मे समर्थ हो जाओगे। तब तुम किसी स्नायु-यन्त्र की सहायता लिए बिना ही किसी भी स्थान मे, किसी भी शरीर द्वारा कार्य कर सकोगे। जब तक आत्मा इस स्नायु-यन्त्ररूप प्रणाली के भीतर से काम करती रहती है, हम कहते है, कि मनुष्य जीवित है, और जब इन यन्त्रो का कार्य बन्द हो जाता है, तो कहते है कि मनुष्य मर गया। पर जब मनुष्य इस प्रकार के स्नायु-यन्त्र की सहायता से, या बिना उसकी सहायता के भी, कार्य करने मे समर्थ हो जाता है, तब उसके लिए जन्म और मृत्यु का कोई अर्थ नही रह जाता। ससार मे जितने शरीर है, वे सब-के-सब तन्मात्राओ से बने हुए हैं, उनमें भेद है केवल तन्मात्राओ के विन्यास की प्रणाली मे। यदि तुम्ही उस विन्यास के कर्ता हो, तो तुम इच्छानुसार शरीर की रचना कर सकते हो। यह शरीर तुम्हारे सिवाय और किसने बनाया है ? अन्न कौन खाता है ? यदि कोई और तुम्हारे लिए भोजन करता रहे, तो तुम कोई अधिक दिन जीवित न रहोगे। उस अन्न से रुधिर भी कौन तैयार करता है ? अवश्य तुम्ही। उस रुधिर को शुद्ध करके कौन धमनियो में प्रवाहित करता है ? तुम्ही। हम शरीर के मालिक हैं और उसमे वास करते हैं। उसका किस प्रकार पुनर्गठन किया जाय, बस इसी ज्ञान को हम खो बैठे हैं। हम यन्त्र के समान अवनतस्वभाव हो गए है। हम शरीर के परमाणुओ की

विन्यासप्रणाली भूल गए है। अतः आज हम जिसे यन्त्रवत् किए जा रहे हैं, उसी को अब जान-बूझकर करना होगा। हम ही तो मालिक हैं—कर्ता है, अतः हमी को इस विन्यासप्रणाली को नियमित करना होगा। और जब हम इसमे कृतकार्य हो जायँगे, तब अपनी इच्छानुसार शरीर का पुनर्गठन कर लेंगे, और तब हमारे लिए जन्म, मृत्यु, आधि-व्याधि कुछ भी न रह जायगा।

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥१३॥

सूत्रार्थ—(मन में इस सस्काररूप) मूल के विद्यमान रहने तक उसका फलभोग (मनुष्य आदि विभिन्न) जाति, (भिन्न-भिन्न) आयु और सुख-दुःख के भोग (के रूप में) होता रहता है।

व्याख्या—सस्काररूप जड अर्थात् कारण भीतर में विद्यमान रहने के कारण वे ही व्यक्तभाव धारण कर फल के रूप में परिणत होते हैं। कारण का नाश होकर कार्य अर्थात् फल का उदय होता है, फिर कार्य सूक्ष्मभाव धारण कर बाद के कार्य का कारणस्वरूप होता है। वृक्ष बीज को उत्पन्न करता है, बीज फिर बाद के वृक्ष की उत्पत्ति का कारण होता है। हम इस समय जो कुछ कर्म कर रहे है, वे समस्त पूर्वसस्कार के फल-स्वरूप हैं। ये ही कर्म फिर सस्कार के रूप मे परिणत होकर भावी कार्य का कारण हो जायँगे। बस इसी प्रकार कार्य-कारण-प्रवाह चलता रहता है। इसीलिए यह सूत्र कहता है कि कारण विद्यमान रहने से उसका फल या कार्य अवश्यमेव होगा। यह फल पहले जाति के रूप में प्रकाशित होता है—कोई लोग मनुष्य होगे, तो कोई देवता, कोई पशु, तो कोई असुर। फिर, यह कर्म आयु को भी नियमित करता है। एक मनुष्य पचास वर्ष जीवित रहता है, तो दूसरा सौ वर्ष, और कोई दो वर्ष के बाद

ही चल बसता है। यह जो आयु की विभिन्नता है, वह पूर्वकर्म द्वारा ही नियमित होती है। फिर इसी प्रकार, किसी को देखने पर प्रतीत होता है कि मानो सुख-भोग के लिए ही उसका जन्म हुआ है—यदि वह वन मे भी चला जाय, तो वहाँ भी सुख मानो उसके पीछे-पीछे जाता है। और कोई दूसरा व्यक्ति ऐसा होता है कि उसके पीछे दु ख मानो छाया के समान लगा रहता है।' यह सब उनके अपने-अपने पूर्वकर्म का फल है। योगियो के मतानुसार पुण्यकर्म सुख लाते है और पापकर्म दु ख। जो मनुष्य कुकर्म करता है, वह क्लेश के रूप में अपने किए का फल अवश्य भोगता है।

ते ह्लादपरितापफला. पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥१४॥

सूत्रार्थ -- वे (जाति, आयु और भोग) हर्ष और शोकरूप फल के देनेवाले होते है, क्योंकि उनके कारण है पुण्य और पाप कर्म।

परिणामतापसस्कारदु खैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥१५॥

सूत्रार्थ — परिणाम-काल में परिणाम (नतीजा) रूप जो दु.ख है, भोग-काल में भोग में विघ्न होने की आशकारूप जो दु ख है, अथवा सुख के सस्कार से उत्पन्न होनेवाला तृष्णारूप जो दु ख है—उस सबका जन्मदाता होने के कारण, तथा गुणवृत्तियो में अर्थात् सत्त्व, रज और तम में परस्पर विरोध होने के कारण विवेकी पुरुष के लिए सब-का-सब दु.खरूप ही है।

व्याख्या—योगीगण कहते हैं कि जिनमें विवेकशक्ति है, जिनमे थोडीसी भी अन्तर्दृष्टि है, वे सुख और दु.ख नामवाली सर्वविध वस्तुओ के अन्तस्तल तक को देख लेते हैं और जान लेते हैं कि ये सुख और दु ख आपस में मानो गुंथे हुए हैं, एक ही

दूसरे मे परिणत हो जाता है और इनसे संसार में कोई भी अछूता नही रहता—ये सबके पास आते है। वे विवेकी पुरुष देखते है कि मनुष्य सारा जीवन मृगजल के पीछे दौडता रहता है और कभी अपनी वासनाओ को पूर्ण नही कर पाता। एक समय महाराज युधिष्ठिर ने कहा था, 'जीवन मे सबसे आश्चर्य-जनक घटना तो यह है कि हम प्रतिक्षण प्राणियो को कालकवलित होते देखते हैं, फिर भी सोचते है कि हम कभी नही मरेंगे।' चारो ओर मूर्खो से घिरे रहकर हम सोचते है कि हमी एकमात्र पण्डित है। चारो ओर सब प्रकार की चचलता के दृष्टान्तो से घिरे रहकर हम सोचते है कि हमारा प्यार ही एकमात्र स्थायी प्यार है। यह कैसे हो सकता है? प्यार भी स्वार्थपरता से भरा है। योगी कहते हैं, 'अन्त में हम देखेंगे कि दोस्तो का प्रेम, सन्तान का प्रेम, यहाँ तक कि पति-पत्नी का प्रेम भी धीरे-धीरे क्षीण होकर नाश को प्राप्त हो जाता है।' नाश ही इस ससार का धर्म है—वह किसी भी वस्तु को अछूता नही रखता। जब मनुष्य ससार की समस्त वासनाओ मे, यहाँ तक कि प्यार में भी निराश हो जाता है, तभी मानो आश्चर्यचकित के समान वह समझ पाता है कि यह ससार भी कैसा भ्रम है, कैसा स्वप्न के समान है! तभी वैराग्य की एक किरण उसके हृदय मे फैलती है, तभी वह जगदातीत सत्ता की मानो थोड़ीसी झलक पाता है। इस ससार को छोडने पर ही पारलौकिक तत्त्व हृदय मे उद्भासित होता है, इस ससार के सुख में आसक्त रहते तक यह कभी सम्भव नही होता। ऐसे कोई महात्मा नही हुए, जिन्हे यह उच्चावस्था प्राप्त करने के लिए इन्द्रिय-सुख-भोग त्यागना न पड़ा हो। दु ख का कारण है—प्रकृति की विभिन्न शक्तियो का

आपस में विरोध। प्रत्येक अपनी-अपनी ओर खींचती है, और इस प्रकार स्थायी सुख असम्भव हो जाता है।

हेयं दुःखमनागतम् ॥१६॥

सूत्रार्थ—जो दुःख अभी तक नहीं आया, उसका त्याग करना चाहिए।

व्याख्या—कर्म का कुछ अंश हम पहले ही भोग चुके है, कुछ अंश हम वर्तमान मे भोग रहे है, और शेष अंश भविष्य में फल प्रदान करेगा। हमने जिसका भोग कर लिया है, वह तो अब समाप्त हो चुका। हम वर्तमान मे जिसका भोग कर रहे है, उसका भोग तो हमे करना ही पडेगा, केवल जो कर्म भविष्य में फल देने के लिए बच रहा है, उसी पर हम जय प्राप्त कर सकते हैं अर्थात् उसका नाश कर सकते है। इसीलिए हमे अपनी पूरी शक्ति उस कर्म के नाश के लिए प्रयुक्त कर देनी चाहिए, जिसने अभी तक कोई फल पैदा नही किया है।

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥१७॥

सूत्रार्थ—यह जो हेय है, अर्थात् जिस दुःख का त्याग करना होगा, उसका कारण है द्रष्टा और दृश्य का संयोग।

व्याख्या—इस द्रष्टा का अर्थ क्या है?—मनुष्य की आत्मा—पुरुष। दृश्य क्या है?—मन से लेकर स्थूल भूत तक सारी प्रकृति। इस पुरुष और मन के संयोग से ही समस्त सुख-दुःख उत्पन्न हुए हैं। तुम्हे याद होगा, इस योगदर्शन के मतानुसार पुरुष शुद्धस्वरूप है, ज्योही वह प्रकृति के साथ संयुक्त होता हे और प्रकृति में प्रतिबिम्बित होता है, त्योही वह सुख अथवा दुःख का अनुभव करता हुआ प्रतीत होता है।

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥१८॥

सूत्रार्थ—प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है, भूत और

इन्द्रियाँ जिसका (प्रकट) स्वरूप है, (पुरुष के) भोग और मुक्ति के लिए ही जिसका प्रयोजन है, वह दृश्य है।

व्याख्या—दृश्य अर्थात् प्रकृति भूतो और इन्द्रियों की समष्टि है; भूत कहने से स्थूल, सूक्ष्म सब प्रकार के भूतो का बोध होता है, और इन्द्रिय से आँख आदि समस्त इन्द्रियाँ तथा मन आदि का भी बोध होता है। उनके धर्म तीन प्रकार के हैं; जैसे—प्रकाश, कार्य और स्थिति यानी जडत्व, इन्ही को दूसरे शब्दो मे सत्त्व, रज और तम कहते है। समग्र प्रकृति का उद्देश्य क्या है? यही कि पुरुष समुदय भोग करके विशेषज्ञ हो जाय। पुरुष मानो अपने महान् ईश्वरीय भाव को भूल गया है। इस सम्बन्ध में एक बड़ी सुन्दर कहानी है—

किसी समय देवराज इन्द्र शूकर बनकर कीचड मे रहते थे, उनके एक शूकरी थी—उस शूकरी से उनके बहुतसे बच्चे पैदा हुए थे। वे बडे सुख से समय बिताते थे। कुछ देवता उनकी यह दुरावस्था देखकर उनके पास आकर बोले, "आप देवराज है, समस्त देवगण आपके शासन के अधीन है। फिर आप यहाँ क्यों हैं?" परन्तु इन्द्र ने उत्तर दिया, "मै बडे मजे मे हूँ। मुझे स्वर्ग की परवाह नही, यह शूकरी और ये बच्चे जब तक हैं, तब तक स्वर्ग आदि कुछ भी नही चाहिए।" देवगण यह सुनकर तो किंकर्तव्य-विमूढ हो गए—उन्हे कुछ सूझ न पडा। कुछ दिनो बाद उन्होंने मन-ही-मन एक सकल्प किया कि वे एक-के-बाद-एक सब बच्चो को मार डालेगे। एक दिन उन्होने आकर एक बच्चे को मार डाला, फिर दूसरे को, और इस प्रकार सभी बच्चे मार डाले गए। अन्त में देवगणो ने उस शूकरी को भी मार डाला। जब इन्द्र का सारा परिवार इस प्रकार नष्ट हो गया, तो इन्द्र कातर होकर विलाप

करने लगे। तब देवताओ ने इन्द्र की शूकर-देह को भी चीर डाला। तब तो इन्द्र उस शूकर-देह से बाहर होकर हँसने लगे और सोचने लगे, 'मै भी कैसा भयकर स्वप्न देख रहा था! कहाँ मै देवराज, और कहाँ इस शूकर-जन्म को ही एकमात्र जन्म समझ बैठा था, यही नही, वरन् सारा ससार शूकर-देह धारण करे, ऐसी कामना कर रहा था!' पुरुष भी बस इसी प्रकार प्रकृति के साथ मिलकर भूल जाता है कि वह शुद्धस्वभाव और अनन्तस्वरूप है। पुरुष को अस्तित्वशाली नही कहा जा सकता, क्योकि वह स्वय अस्तित्वस्वरूप है। आत्मा को ज्ञानसम्पन्न नही कहा जा सकता, क्योकि आत्मा स्वय ज्ञानस्वरूप है। उसे प्रेम-सम्पन्न नही कहा जा सकता, क्योकि वह स्वय प्रेमस्वरूप है। आत्मा को अस्तित्वशाली, ज्ञानयुक्त अथवा प्रेममय कहना सर्वथा भूल है। प्रेम, ज्ञान और अस्तित्व पुरुष के गुण नही, वे तो उसका स्वरूप हैं। जब वे किसी वस्तु मे प्रतिबिम्बित होते हैं, तब चाहो तो उन्हे उस वस्तु के गुण कह सकते हो। किन्तु वे पुरुष के गुण नही हैं, वे तो उस महान् आत्मा, उस अनन्त पुरुष का स्वरूप है, जिसका न जन्म है, न मृत्यु और जो अपनी महिमा में विराजमान है। किन्तु वह यहाँ तक स्वरूपभ्रष्ट हो गया है कि यदि तुम उसके पास जाकर कहो कि तुम शूकर नही हो, तो वह चिल्लाने लगता है और काटने दौडता है।

इस माया के बीच, इस स्वप्नमय जगत् के बीच हमारी भी ठीक वही दशा हो गई है। यहाँ है केवल रोना, केवल दुःख, केवल हाहाकार! अजीब तमाशा है यहाँ का! यहाँ सोने के कुछ गोले लुढका दिए जाते है और बस सारा ससार उनके लिए पागलो के समान छूट पडता है। तुम कभी भी किसी नियम से

बद्ध नही थे। प्रकृति का बन्धन तुम पर किसी काल मे नहीं है। योगी तुम्हे यही शिक्षा देते है, धैयपूर्वक इसको सीखो। योगी यह समझने देते हैं कि पुरुष किस प्रकार इस प्रकृति के साथ अपने को मिलाकर—अपने को मन और जगत् के साथ एकरूप करके अपने आप को दु:खी समझने लगता है। योगी यह भी कहते है कि इस दु खमय ससार से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है—प्रकृति के सारे सुख-दु ख भोगकर अभिज्ञता प्राप्त कर लेना। भोग अवश्यम्भावी है, वह तो करना ही होगा, अतएव जितनी जल्दी वह कर लिया जाय, उतना ही मगल है। हमने अपने आपको इस जाल मे फँसा लिया है, हमे इसके बाहर आना होगा। हम स्वय इस फन्दे मे फँस गए हैं, और अब अपने ही प्रयत्न से उससे मुक्ति प्राप्त करनी पडेगी। अतएव, पति-पत्नी सम्बन्धी, मित्र सम्बन्धी तथा और भी जो सब छोटी-छोटी प्रेम की आकाक्षाएँ है, सभी का भोग कर डालो। यदि अपना स्वरूप तुम्हे सदा याद रहे, तो तुम शीघ्र ही निर्विघ्न इसके पार हो जाओगे। यह कभी न भूलना कि यह अवस्था बिलकुल अल्प समय के लिए है और हमे इसके भीतर से बाध्य होकर जाना पड रहा है। भोग—सुख-दु.ख का यह अनुभव ही—हमारा एकमात्र महान् शिक्षक है, लेकिन स्मरण रहे, ये सब भोग मार्ग की केवल सामयिक घटनाएँ मात्र हैं, वे क्रमश हमें एक ऐसी अवस्था मे ले जाते है, जहाँ ससार की समस्त वस्तुएँ बिलकुल तुच्छ हो जाती हैं। तब पुरुप विश्वव्यापी विराट् के रूप मे प्रकाशित हो जाती है और तब यह सारा विश्व सिन्धु मे एक बिन्दु-सा प्रतीत होने लगता है और अपनी ही इस क्षुद्रता के कारण—इस शून्यता के कारण न जाने कहाँ विलीन हो जाता है। सुख-दु.ख का भोग तो

हमें करना ही पड़ेगा, पर स्मरण रहे, हम अपना चरम लक्ष्य कभी न भूलें।

विशेषाविशेषलिंगमात्रालिंगानि गुणपर्वाणि ॥१९॥

सूत्रार्थ—विशेष (भूतेन्द्रिय), अविशेष (तन्मात्र अस्मिता), केवल चिह्नमात्र (महत्) और चिह्नशून्य (प्रकृति)—ये चार (सत्त्वादि) गुणों की अवस्थाएँ हैं।

व्याख्या—यह पहले कहा जा चुका है कि योगशास्त्र सांख्यदर्शन पर स्थापित है; यहाँ पर फिर से सांख्यदर्शन का जगत्-सृष्टिप्रकरण स्मरण कर लेना आवश्यक है। सांख्यमत से, प्रकृति ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण है। यह प्रकृति तीन प्रकार के धातुओं से निर्मित है—सत्त्व, रज और तम। तम पदार्थ केवल अन्धकारस्वरूप है, जो कुछ अज्ञानात्मक और भारी है, सभी तमोमय है। रज क्रियाशक्ति है। और सत्त्व स्थिर एवं प्रकाशस्वभाव है। सृष्टि के पूर्व प्रकृति जिस अवस्था में रहती है, उसे सांख्यमतावलम्बी दार्शनिकगण अव्यक्त, अविशेष या अविभक्त कहते हैं, इसका तात्पर्य यह कि इस अवस्था में नाम-रूप का कोई भेद नहीं रहता, इस अवस्था में ये तीनों पदार्थ पूर्ण साम्यभाव से रहते हैं। उसके बाद जब यह साम्यावस्था नष्ट होकर वैषम्यावस्था आती है, तब ये तीनों पदार्थ अलग-अलग रूप से परस्पर मिश्रित होते रहते हैं और उनका फल है यह जगत्। प्रत्येक मनुष्य में भी ये तीन पदार्थ विद्यमान हैं। जब सत्त्व प्रबल होता है, तब ज्ञान का उदय होता है, रज प्रबल होने पर क्रिया की वृद्धि होती है, और तम प्रबल होने पर अन्धकार, आलस्य और अज्ञान आते हैं। सांख्यमत के अनुसार, त्रिगुणमयी प्रकृति का सर्वोच्च प्रकाश है महत् या बुद्धि-

तत्त्व—उसे सर्वव्यापी या सार्वजनीन बुद्धितत्त्व कहते है। प्रत्येक मानव-बुद्धि इस सर्वव्यापी बुद्धितत्त्व का एक अश-मात्र है। सांख्य-मनोविज्ञान के मत से, मन और बुद्धि मे विशेष भेद है। मन का काम है केवल विषय के आघात से उत्पन्न सवेदनाओ को भीतर ले जाकर एकत्रित करना और उन्हे बुद्धि अर्थात् व्यष्टि या व्यक्तिगत महत् के सामने रख देना। बुद्धि उन सब विषयो का निश्चय करती है। महत् से अहतत्त्व और अहत्तत्त्व से सूक्ष्म भूतो की उत्पत्ति होती है। ये सूक्ष्म भूत फिर परस्पर मिलकर इन बाहरी स्थूल भूतो मे परिणत होते हैं; उसी से इस स्थूल जगत् की उत्पत्ति होती है। साख्यदर्शन का मत है कि बुद्धि से लेकर पत्थर के एक टुकडे तक सभी एक ही पदार्थ से उत्पन्न हुए है, उनमें जो भेद है, वह केवल उनकी सूक्ष्मता और स्थूलता मे ही है। सूक्ष्म कारण है और स्थूल कार्य। साख्यदर्शन के मतानुसार, पुरुष समग्र प्रकृति के बाहर है, वह जड़ नही है। पुरुष बुद्धि, मन, तन्मात्रा या स्थूल भूत इनमे से किसी के भी समान नही है। वह सर्वथा अलग है, उसका स्वभाव सम्पूर्णत भिन्न है। इससे वे यह सिद्धान्त स्थिर करते हैं कि पुरुष अवश्य मृत्युरहित, अजर और अमर होना चाहिए, क्योकि वह किसी प्रकार के मिश्रण से उत्पन्न नही हुआ है। और जो किसी मिश्रण से उत्पन्न नही हुआ है, उसका कभी नाश भी नही हो सकता। इन पुरुषो या आत्माओ की संख्या अनगिनती है।

अब हम इस सूत्र का तात्पर्य समझ सकेंगे। 'विशेष' शब्द स्थूल भूतो को लक्ष्य करता है—जिनकी हम इन्द्रियो से उपलब्धि कर सकते हैं। 'अविशेष' का अर्थ है सूक्ष्म भूत—

तन्मात्रा, इन तन्मात्राओ की उपलब्धि साधारण मनुष्य नही कर सकते। किन्तु पतजलि कहते है, 'यदि तुम योग का अभ्यास करो, तो कुछ दिनो बाद तुम्हारी अनुभव-शक्ति इतनी सूक्ष्म हो जायगी कि तुम सचमुच तन्मात्राओ को भी देख सकोगे।' तुम लोगो ने सुना होगा कि हर एक मनुष्य की अपनी एक प्रकार की ज्योति होती है, प्रत्येक प्राणी के भीतर से हमेशा एक प्रकार का प्रकाश बाहर निकलता रहता है। पतजलि कहते है, योगी ही उसे देखने मे समर्थ होते है। हममे से सभी उसे नही देख पाते, फिर भी जिस प्रकार फूल में से सदैव फूल की सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणुस्वरूप तन्मात्राएँ बाहर निकलती रहती हैं, जिसके द्वारा हम उसकी गन्ध ले सकते है, उसी प्रकार हमारे शरीर से भी ये तन्मात्राएँ सतत निकल रही है। प्रति दिन हमारे शरीर से शुभ या अशुभ किसी-न-किसी प्रकार की शक्तिराशि बाहर निकलती रहती है। अतएव हम जहाँ भी जायँगे, वही आकाश इन तन्मात्राओ से पूर्ण होकर रहेगा। इसका असल रहस्य न जानते हुए भी, इसी से मनुष्य के मन में अनजाने मन्दिर, गिर्जा आदि बनाने का भाव आया है। भगवान को भजने के लिए मन्दिर बनाने की क्या आवश्यकता थी? क्यो, कही भी तो ईश्वर की उपासना की जा सकती थी। फिर यह सब मन्दिर आदि क्यो, इसका कारण यह है कि स्वय इस रहस्य को न जानने पर भी, मनुष्य के मन में स्वाभाविक रूप से ऐसा उठा था कि जहाँ पर लोग ईश्वर की उपासना करते है, वह स्थान पवित्र तन्मात्राओ से परिपूर्ण हो जाता है। लोग प्रति दिन वहाँ जाया करते हैं, और मनुष्य जितना ही वहाँ आते-जाते हैं, उतना ही वे पवित्र होते जाते है और साथ ही वह स्थान

भी अधिकाधिक पवित्र होता जाता है। यदि किसी मनुष्य के मन में उतना सत्त्वगुण नहीं है, और यदि वह भी वहाँ जाय, तो वह स्थान उस पर भी अपना असर डालेगा और उसके अन्दर सत्त्वगुण का उद्रेक कर देगा। अब हम समझ सकेंगे कि मन्दिर और तीर्थ आदि इतने पवित्र क्यों माने जाते हैं। पर यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि साधु व्यक्तियों के समागम के ऊपर ही उस स्थान की पवित्रता निर्भर रहती है। किन्तु सारी गड़बडी तो यही है कि मनुष्य उसका मूल उद्देश्य भूल जाता है—और भूलकर गाडी को बल के आगे जोतना चाहता है। पहले मनुष्य ही उस स्थान को पवित्र बनाते है, उसके बाद उस स्थान की पवित्रता स्वय कारण बन जाती है और मनुष्यों को पवित्र बनाती रहती है। यदि उस स्थान में सदा असाधु व्यक्तियों का ही आवागमन रहे, तो वह स्थान अन्य स्थानों के समान ही अपवित्र बन जायगा। इमारत के गुण से नहीं वरन् मनुष्य के गुण से ही मन्दिर पवित्र माना जाता है, पर इसी को हम सदा भूल जाते हैं। इसीलिए प्रबल सत्त्वगुण-सम्पन्न साधु और महात्मागण चारों ओर यह सत्त्वगुण बिखेरते हुए अपने चारों ओर स्थित मनुष्यों पर महान् प्रभाव डाल सकते है। मनुष्य यहाँ तक पवित्र हो सकता है कि उसकी वह पवित्रता मानो बिलकुल प्रत्यक्ष देखी जा सकती है—वह देह को भेदकर बाहर आने लगती है। साधु का शरीर पवित्र हो जाता है, अत वह देह जहाँ विचरण करती है, वहाँ पवित्रता बिखेरती रहती है। यह कवित्व की भाषा नहीं है, रूपक नहीं है, सचमुच वह पवित्रता मानो इन्द्रियगोचर एक बाह्य वस्तु के समान प्रतीत होती है। इसका एक यथार्थ अस्तित्व है—एक यथार्थ सत्ता है

जो कोई व्यक्ति उस साधु पुरुष के संस्पर्श में आता है, वही पवित्र हो जाता है।

अब देखे, 'लिंगमात्र' का अर्थ क्या है। लिंगमात्र कहने से बुद्धि (महत्तत्त्व) का बोध होता है, वह प्रकृति की पहली अभिव्यक्ति है, उसी से दूसरी सब वस्तुएँ अभिव्यक्त हुई है। गुणो की अन्तिम अवस्था का नाम है 'अलिंग' या चिह्नशून्य। यही पर आधुनिक विज्ञान और समस्त धर्मो मे एक भारी झगडा देखा जाता है। प्रत्येक धर्म मे यह एक साधारण सत्य देखने में आता है कि यह जगत् चैतन्यशक्ति से उत्पन्न हुआ है। ईश्वर हमारे समान कोई व्यक्तिविशेष है या नही, यह विचार छोडकर केवल मनोविज्ञान की दृष्टि से ईश्वरवाद का तात्पर्य यह है कि चैतन्य ही सृष्टि की आदिवस्तु है, उसी से स्थूल भूत का प्रकाश हुआ है। किन्तु आधुनिक दार्शनिकगण कहते हैं कि चैतन्य सृष्टि की आखिरी वस्तु है। अर्थात् उनका मत यह है कि अचेतन जड वस्तुएँ धीरे-धीरे प्राणी के रूप में परिणत हुई है, ये प्राणी क्रमश उन्नत होते-होते मनुष्य-रूप धारण करते है। वे कहते हैं, यह वात नही है कि जगत् की सब वस्तुएँ चैतन्य से प्रसूत हुई है, वरन् चैतन्य ही सृष्टि की आखिरी वस्तु है। यद्यपि धर्मों एव विज्ञान के सिद्धान्त इस प्रकार आपस मे ऊपर से विरुद्ध प्रतीत होते है, तथापि इन दोनो सिद्धान्तो को ही सत्य कहा जा सकता है। एक अनन्त शृंखला या श्रेणी लो, जैसे—क-ख-क-ख-क-ख आदि, अव प्रश्न यह है कि इसमें क पहले है या ख? यदि तुम इस शृंखला को क–ख क्रम से लो, तो 'क' को प्रथम कहना पडेगा, पर यदि तुम उसे ख–क से शुरू करो, तो 'ख' को आदि मानना होगा। अत. हम उसे जिस दृष्टि से देखेंगे, वह उसी प्रकार

प्रतीत होगा। चैतन्य अनुलोम-परिणाम को प्राप्त होकर स्थूल भूत का आकार धारण करता है, स्थूल भूत फिर विलोम-परिणाम से चैतन्यरूप में परिणत होता है, और इस प्रकार क्रम चलता रहता है। सांख्य और अन्य सब धर्मों के आचार्यगण भी चैतन्य को ही प्रथम स्थान देते हैं। उससे वह श्रृखला इस प्रकार का रूप धारण करती है कि पहले चैतन्य, और पीछे भूत। वैज्ञानिक भूत को पहले लेकर कहते हैं कि पहले भूत, और पीछे चैतन्य। पर ये दोनो ही उसी एक श्रृखला की बात कहते है। किन्तु भारतीय दर्शन इस चैतन्य और भूत दोनो के परे जाकर उस पुरुष या आत्मा का साक्षात्कार करता है, जो ज्ञान के भी अतीत है। यह ज्ञान तो मानो उस ज्ञानस्वरूप आत्मा के पास से प्राप्त आलोक के समान है।

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥२०॥

सूत्रार्थ—द्रष्टा केवल चैतन्यमात्र है; यद्यपि वह स्वयं पवित्र-स्वरूप है, तो भी वह बुद्धि के भीतर से देखा करता है।

व्याख्या—यहाँ पर भी साख्यदर्शन की बात कही जा रही है। हमने पहले देखा है, साख्यदर्शन का यह मत है कि अत्यन्त क्षुद्र पदार्थ से लेकर बुद्धि तक सभी प्रकृति के अन्तर्गत है, किन्तु पुरुष (आत्माएँ) इस प्रकृति के बाहर हैं, इन पुरुषो के कोई गुण नही है। तब फिर आत्मा क्योकर सुखी या दुःखी होती है? केवल बुद्धि मे प्रतिबिम्बित होकर वह वैसी प्रतीयमान होती है। जैसे स्फटिक के एक टुकडे के पास एक लाल फूल रखने पर वह स्फटिक लाल दिखाई देता है, उसी प्रकार हम जो सुख या दुःख अनुभव कर रहे हैं, वह वास्तव मे प्रतिबिम्ब मात्र है, वस्तुतः आत्मा में यह सब कुछ भी नही है। आत्मा प्रकृति से सम्पूर्णतः

पृथक् वस्तु है। प्रकृति एक वस्तु है और आत्मा दूसरी — सम्पूर्ण पृथक् और सर्वदा पृथक्। साख्याचार्यगण कहते हैं कि ज्ञान एक मिश्र पदार्थ है, उसका ह्रास और वृद्धि दोनो है, वह परिवर्तनशील है, शरीर के समान उसमें भी क्रमश परिणाम होता है, शरीर के जो सब धर्म है, उसके भी प्राय वैसे ही धर्म हैं। नख का शरीर के साथ जैसा सम्वन्ध है, वैसा ही देह का ज्ञान के साथ। नख शरीर का एक अशविशेष है, उसे सैकडो वार काट डालने पर भी शरीर वचा रहेगा। ठीक इसी प्रकार, यह शरीर सैकडो बार नष्ट होन पर भी ज्ञान युग-युगान्तर तक वचा रहेगा। तो भी यह ज्ञान कभी अविनाशी नही हो सकता, क्योंकि वह परिवर्तनशील है, उसका ह्रास है, वृद्धि है। और जो परिवर्तनशील है, वह कभी अविनाशी नही हो सकता। यह ज्ञान एक सृष्ट पदार्थ है, और इसी से यह स्पष्ट है कि इसके ऊपर— इससे श्रेष्ठ एक दूसरा पदार्थ अवश्य है। सृष्ट पदार्थ कभी मुक्त-स्वभाव नही हो सकता; भूत के साथ सश्लिष्ट प्रत्येक वस्तु प्रकृति के अन्तर्गत है और इसलिए वह चिरकाल के लिए बद्धभावापन्न है। तो फिर यथार्थ मे मुक्त है कौन? जो कार्य-कारण सम्बध के अतीत है, वही वास्तव में मुक्तस्वभाव है। यदि तुम कहो कि यह मुक्तभाव भ्रमात्मक है, तो मै कहूँगा कि यह बद्धभाव भी भ्रमात्मक है। हमारे ज्ञान मे ये दोनो ही भाव सदैव वर्तमान हैं, वे आपस में एक दूसरे के आश्रित है, एक के न रहने से दूसरा भी नही रह सकता। उनमें से एक भाव यह है कि हम वद्ध हैं। मान लो, हमारी इच्छा हुई कि हम दीवार के बीच में से होकर चले जायें। हम चेष्टा करते है और हमारा सिर दीवार से टकरा जाता है, तव हम देख पाते हैं कि हम

उस दीवार द्वारा सीमाबद्ध है। पर साथ ही हम अपनी एक इच्छाशक्ति भी देखते हैं और सोचते हैं कि इस इच्छाशक्ति को हम जहाँ चाहे लगा सकते हैं। पग-पग मे हम अनुभव करते हैं कि ये विरोधी भावद्वय हमारे सामने आ रहे हैं। हमे विश्वास करना पडता है कि हम मुक्त हैं, पर इधर प्रति मुहूर्त हम यह भी देखते है कि हम मुक्त नही है। इन दोनो मे से यदि एक भाव भ्रमात्मक हो, तो दूसरा भी भ्रमात्मक होगा, और यदि एक सत्य हो, तो दूसरा भी सत्य होगा, क्योकि दोनों ही अनुभवरूप एक ही नीव पर स्थापित है। योगी कहते हैं कि ये दोनो भाव सत्य है। वुद्धि तक लेने से हम सचमुच बद्ध है पर आत्मा की दृष्टि से हम मुक्तस्वभाव हैं। मनुष्य का यथार्थ स्वरूप—आत्मा या पुरुष—कार्य-कारण श्रृंखला के बाहर है। आत्मा का यह मुक्तस्वभाव ही भूत के विभिन्न स्तरों में से—बुद्धि, मन आदि नाना रूपो में से—प्रकाशित हो रहा है। वह इसी की ज्योति है, जो सबो के भीतर से प्रकाशित हो रही है। बुद्धि का अपना कोई चैतन्य नही है। प्रत्येक इन्द्रिय का मस्तिष्क में एक-एक केन्द्र है। समस्त इन्द्रियो का एक ही केन्द्र नही है, वरन् प्रत्येक का केन्द्र अलग-अलग है। तो फिर हमारी ये अनुभूतियाँ कहाँ जाकर एकत्व को प्राप्त होती है? यदि मस्तिष्क मे वे एकत्व को प्राप्त होती, तो आँख, कान, नाक सभी का एक ही केन्द्र रहता, पर हम निश्चित रूप से जानते हैं कि वैसा नही है—प्रत्येक के लिए अलग-अलग केन्द्र है। फिर भी मनुष्य एक ही समय मे देख और सुन सकता है। इसी से प्रतीत होता है कि इस वुद्धि के पीछे अवश्य एक एकत्व होना चाहिए। बुद्धि सदैव मस्तिष्क के साथ सम्बद्ध है, किन्तु

इस बुद्धि के भी पीछे पुरुष विद्यमान है। वही एकत्वस्वरूप है॥ उसी के पास जाकर ये सब अनुभूतियाँ एकीभाव को प्राप्त होती हैं। आत्मा ही वह केन्द्र है, जहाँ समस्त भिन्न-भिन्न इन्द्रिय-अनुभूतियाँ जाकर एकीभूत होती है। यह आत्मा मुक्तस्वभाव है और उसका यह मुक्तस्वभाव ही तुम्हे प्रति क्षण कह रहा है कि तुम मुक्त हो। लेकिन भ्रम में पडकर तुम उस मुक्तस्वभाव को प्रति क्षण बुद्धि और मन के साथ मिला दे रहे हो। तुम उस मुक्तस्वभाव को बुद्धि पर आरोपित करते हो और दूसरे ही क्षण देखते हो कि बुद्धि मुक्तस्वभाव नही है। तुम फिर उस मुक्तस्वभाव को देह पर आरोपित करते हो, और प्रकृति तुम्हे तुरन्त बता देती है कि तुम फिर से भूल रहे हो, मुक्ति देह का धर्म नही है। यही कारण है कि हमारी मुक्ति और बन्धन ये दो प्रकार की अनुभूतियाँ एक ही समय देखने मे आती है। योगी मुक्ति और बन्धन दोनो का विचार करते हैं, और उनका अज्ञानान्धकार दूर हो जाता है। वे जान लेते हैं कि पुरुष मुक्त-स्वभाव है, ज्ञानघन है, वह बुद्धिरूप उपाधि के भीतर से इस सान्त ज्ञान के रूप मे प्रकाशित हो रहा है, बस इसी दृष्टि से वह बद्ध है।

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥२१॥

सूत्रार्थ—(उक्त) दृश्य अर्थात् प्रकृति का स्वरूप (यानी विभिन्न रूपो में परिणाम) उस (द्रष्टा, चिन्मय पुरुष) के ही (भोग तथा मुक्ति के) लिए है।

व्याख्या—प्रकृति की अपनी कोई शक्ति नही है। जब तक पुरुष उसके पास उपस्थित रहता है, तभी तक उसकी शक्ति है ऐसा बोध होता है। चन्द्रमा का प्रकाश जैसे उसका

अपना नही है, सूर्य से लिया गया है, प्रकृति की शक्ति भी उसी प्रकार पुरुष से प्राप्त है। योगियो के मतानुसार, सारा व्यक्त जगत् प्रकृति से उत्पन्न हुआ है, पर प्रकृति का अपना कोई उद्देश्य नही है, केवल पुरुष को मुक्त करना ही उसका प्रयोजन है।

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥२२॥

सूत्रार्थ—जिन्होने उस परम पद को प्राप्त कर लिया है, उनके लिए प्रकृति का नाश हो जाने पर भी वह नष्ट नहीं होती, क्योंकि वह दूसरों के लिए साधारण है।

व्याख्या—यह ज्ञात करा देना ही कि आत्मा प्रकृति से सम्पूर्ण स्वतन्त्र है, प्रकृति का एक मात्र लक्ष्य है। जब आत्मा यह जान लेती है, तब प्रकृति उसे और किसी प्रकार प्रलोभित नहीं कर सकती। जो लोग मुक्त हो गए है, केवल उन्ही के लिए यह सारी प्रकृति बिलकुल उड जाती है। पर ऐसे करोडो लोग हमेशा ही रहेगे, जिनके लिए प्रकृति कार्य करती रहेगी।

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥२३॥

सूत्रार्थ—दृश्य (प्रकृति) और उसके स्वामी (द्रष्टा पुरुष)—इन दोनो की शक्ति के (भोग्यत्व और भोक्तृत्वरूप) स्वरूप की उपलब्धि का हेतु 'संयोग' है।

व्याख्या—इस सूत्र के अनुसार, जब आत्मा प्रकृति के साथ सयुक्त होती है, तभी इस सयोग के कारण दोनो की क्रम से द्रष्टृत्व और दृश्यत्व इन दोनो शक्तियो का प्रकाश होता है। तभी यह सारा जगत्-प्रपच विभिन्न रूपो में व्यक्त होता रहता है। अज्ञान ही इस सयोग का हेतु है। हम प्रतिदिन देखते हैं कि हमारे दु ख या सुख का कारण है—शरीर के साथ अपना संयोग कर लेना। यदि मुझे यह निश्चित रूप से ज्ञान रहता

कि मैं शरीर नही हूँ, तो मुझे ठड, गरमी या और किसी का ख्याल नही रहता। यह शरीर एक समवाय या संहति मात्र है। यह कहना भूल है कि मेरा शरीर अलग है, तुम्हारा शरीर अलग और सूर्य एक पृथक पदार्थ है। यह सारा जगत् महाभूत के एक समुद्र के समान है। उस महासमुद्र मे तुम एक विन्दु हो, मैं एक दूसरा विन्दु और सूर्य एक तीसरा। हम जानते है कि यह भूत सदा ही भिन्न-भिन्न रूप धारण कर रहा है। आज जो सूर्य का उपादान बना हुआ है, कल वही हमारे शरीर के उपादान के रूप मे परिणत हो सकता है।

तस्य हेतुरविद्या ॥२४॥

सूत्रार्थ—उस सयोग का कारण है अविद्या अर्थात् अज्ञान।

व्याख्या—हमने अज्ञान के कारण अपने को एक निर्दिष्ट शरीर मे आबद्ध करके अपने दु ख का रास्ता खोल रखा है। यह धारणा कि "मै शरीर हूँ", एक कुसस्कार मात्र है। यह कुसस्कार ही हमे सुखी या दु.खी करता है। अज्ञान से उत्पन्न इस कुसस्कार से ही हम शीत, उष्ण, सुख, दु ख आदि अनुभव कर रहे है। हमारा कर्तव्य है—इस कुसस्कार के पार चले जाना। किस तरह इसे कार्य मे परिणत करना होगा, यह योगी दिखला देते है। यह प्रमाणित हो चुका है कि मन की एक विशेष अवस्था मे देह-बोध बिलकुल नही रह जाता—उस समय शरीर भले ही दग्ध होता रहे, पर जब तक मन की वह अवस्था रहती है, तब तक मनुष्य किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नही करता। पर हो सकता है, मन की ऐसी उच्चावस्था अचानक एक मुहूर्त के लिए आँधी के समान आए, और दूसरे ही क्षण चली जाय। किन्तु यदि हम इस अवस्था को योग के द्वारा, ठीक

शास्त्रीय ढंग से प्राप्त करे, तो हम सदैव आत्मा को शरीर से पृथक् रख सकते हैं।

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥२५॥

सूत्रार्थ — उस (अज्ञान) का अभाव होते ही (पुरुष-प्रकृति के) संयोग का अभाव (हो जाता है। यही) हान (अज्ञान का परित्याग) है (और) वही द्रष्टा की कैवल्यपद में अवस्थिति है।

व्याख्या—योगशास्त्र के मतानुसार, आत्मा अविद्या के कारण प्रकृति के साथ संयुक्त हो गई है, प्रकृति के पजे से छुटकारा पाना ही हमारा उद्देश्य है। यही सारे धर्मों का एकमात्र लक्ष्य है। प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एव अन्त - प्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। कर्म, उपासना, मन संयम अथवा ज्ञान, इनमें से एक, एक से अधिक या सभी उपायो का सहारा लेकर अपने ब्रह्मभाव को व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ। बस यही धर्म का सर्वस्व है। मत, अनुष्ठान-पद्धति, शास्त्र, मन्दिर अथवा अन्य बाह्य क्रिया-कलाप तो उसके गौण अग-प्रत्यग मात्र हैं। योगी मन सयम के द्वारा इस चरम लक्ष्य मे पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। जब तक हम प्रकृति के हाथ से अपना उद्धार नही कर लेते, तब तक हम क्रीतदास के समान हैं; प्रकृति जैसा कहती है, हम उसी प्रकार चलने को लाचार होते है। योगी कहते है, जो मन को वशीभूत कर सकते है, वे भूत को भी वशीभूत कर लेते हैं। अन्त प्रकृति बाह्य प्रकृति की अपेक्षा कही उच्चतर है, और उस पर अधिकार जमाना—उस पर जय प्राप्त करना अपेक्षाकृत कठिन है। इसीलिए जो अन्त प्रकृति को वशीभूत कर सकते है, सारा जगत् उनके वशीभूत हो जाता है।

वह उनके दास के समान हो जाता है। राजयोग, प्रकृति को इस तरह वश में लाने का उपाय दिखला देता है। हम बाह्य जगत् में जिन सब शक्तियों के साथ परिचित है, उनकी अपेक्षा उन्नततर शक्तियों को वश में लाना पड़ेगा। यह शरीर मन का एक बाह्य आवरण मात्र है। शरीर और मन दो अलग-अलग वस्तुएँ नहीं है, वे तो सीप और उसके खोल के समान हैं। वे एक ही वस्तु की दो विभिन्न अवस्थाएँ है। सीप के भीतर का जन्तु बाहर से नाना प्रकार के उपादान लेकर उस खोल को तैयार करता है। उसी प्रकार मन नामक यह आन्तरिक सूक्ष्म शक्तिसमूह भी बाहर से स्थूल भूत को लेकर उससे इस शरीर-रूपी ऊपरी खोल को तैयार कर रहा है। अतः हम यदि अन्त-र्जगत् पर जय-लाभ कर सके, तो बाह्य जगत् को जीतना फिर बडा आसान हो जायगा। फिर, ये दो शक्तियाँ अलग-अलग नहीं है। ऐसी बात नही है कि कुछ शक्तियाँ भौतिक हैं और कुछ मानसिक। जैसे यह दृश्यमान भौतिक जगत् सूक्ष्म जगत् का स्थूल प्रकाश मात्र है, उसी प्रकार भौतिक शक्तियाँ भी सूक्ष्म शक्ति की स्थूल अभिव्यक्ति मात्र है।

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥२६॥

सूत्रार्थ—निरन्तर विवेक का अभ्यास ही अज्ञान-नाश का उपाय है।

व्याख्या—सारे साधन का यथार्थ लक्ष्य है यह सदसद्-विवेक—यह जानना कि पुरुष प्रकृति से भिन्न है, यह विशेष रूप से जानना कि पुरुष भूत भी नही है और मन भी नही, और चूंकि वह प्रकृति भी नही है, इसलिए उसका किसी प्रकार का परिणाम असम्भव है। केवल प्रकृति मे ही सर्वदा परिवर्तन हो रहा है, उसी का सदैव सश्लेषण-विश्लेषण हो रहा है। जब

निरन्तर अभ्यास के द्वारा हम विवेक-लाभ करेंगे, तब अज्ञान चला जायगा और पुरुष अपने स्वरूप मे अर्थात् सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान और सर्वव्यापी रूप में प्रतिष्ठित हो जायगा।

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमि. प्रज्ञा ॥२७॥

सूत्रार्थ—उनके (ज्ञानी के) विवेक-ज्ञान के सात उच्चतम सोपान है।

व्याख्या—जब इस ज्ञान की प्राप्ति होती है, तब मानो वह एक के वाद एक करके सात स्तरो मे आता है। और जब उनमें से एक अवस्था आरम्भ हो जाती है, तब हम निश्चित रूप से जान सकते है कि हमें अब ज्ञान की प्राप्ति हो रही है। पहली अवस्था आने पर मन में ऐसा होने लगेगा कि जो कुछ जानने का है, जान लिया। मन मे तब और किसी प्रकार का असन्तोष नही रह जाता। जब तक हमारी ज्ञान-पिपासा बनी रहती है, तब तक हम इधर-उधर ज्ञान की खोज मे लगे रहते है। जहाँ से भी कुछ सत्य मिलने की सम्भावना रहती है, झट वही दौड जाते है। जब वहाँ उसकी प्राप्ति नही होती, तब मन अशान्त हो जाता है। फिर अन्य दिशा में हम सत्य की खोज मे भटकते फिरते है। जब तक हम यह अनुभव नही कर लेते कि समस्त ज्ञान हमारे अन्दर है, जब तक यह दृढ धारणा नही हो जाती कि कोई भी हमे सत्य की प्राप्ति करने मे सहायता नही पहुँचा सकता, हमे स्वय ही अपने आपकी सहायता करनी होगी, तब तक सारा सत्यान्वेषण ही वृथा है। जब हम विवेक का अभ्यास आरम्भ करेंगे, तो हमारे सत्य के नजदीक आते जाने का पहला चिह्न यह प्रकाशित होगा कि वह पूर्वोक्त असन्तोष की अवस्था चली जायगी। हमारी यह निश्चित धारणा हो जायगी कि हमने

सत्य को पा लिया है—और यह सत्य के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता। तब हम यह जान लेते हैं कि सत्यस्वरूप सूर्य उदित हो रहा है, हमारी अज्ञानरजनी पर प्रभात की लाली छा रही है। और तब, हृदय मे आशा भरकर, जब तक यह परमपद प्राप्त नही हो जाता, तब तक अध्यवसायसम्पन्न होकर रहना होगा। दूसरी अवस्था मे सारे दुःख चले जायँगे। तब जगत् का बाहरी या भीतर कोई भी विषय हमे दुःख नही पहुँचा सकेगा। तीसरी अवस्था मे हमे पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो जायगी, अर्थात् हम सर्वज्ञ हो जायँगे। चौथी अवस्था में विवेक की सहायता से सारे कर्तव्यो का अन्त हो जायगा। उसके बाद चित्तविमुक्ति की अवस्था आयगी। तब हम समझ सकेगे कि हमारी सारी विघ्न-बाधाएँ चली गई है। जिस प्रकार किसी पर्वत के शिखर से एक पत्थर के टुकडे को नीचे लुढका देने पर वह फिर ऊपर नही जा सकता, उसी प्रकार मन की चचलता, मन सयम की असमर्थता आदि सभी गिर जायँगे, अर्थात् नष्ट हो जायँगे। छठी अवस्था मे चित्त समझ लेगा कि इच्छा मात्र से ही वह अपने कारण मे लीन हो जा रहा है। अन्त मे हम देख पायँगे कि हम स्वस्वरूप मे अवस्थित है और इतने दिन तक जगत् मे एकमात्र हमी अवस्थित थे। मन या शरीर के साथ हमारा कोई सम्बन्ध नही था—उनके साथ हमारे युक्त होने की बात तो दूर ही रहे। वे अपना-अपना काम आप कर रहे थे और हमने अज्ञानवश अपने आपको उनसे युक्त कर रखा था। पर हम तो सदा से अकेले ही रहे है। इस ससार मे केवल हमी सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी और सदानन्दस्वरूप है। हमारी अपनी आत्मा इतनी पवित्र और पूर्ण है कि हमे और किसी की आवश्यकता नही थी। हमे सुखी करने

के लिए और कुछ भी आवश्यक नहीं था, क्योंकि हमी सुखस्वरूप हैं। हम देख लेंगे कि यह ज्ञान और किसी के ऊपर निर्भर नहीं रहता। जगत् में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो हमारे ज्ञानालोक से प्रकाशित न हो। यही योगी की अन्तिम अवस्था है। तब योगी धीर और शान्त हो जाते हैं, वे और कोई कष्ट अनुभव नहीं करते, वे फिर कभी अज्ञान-मोह से भ्रान्त नहीं होते, दुःख उन्हें छू नहीं सकता। वे जान लेते हैं कि मैं नित्यानन्दस्वरूप, नित्य-पूर्णस्वरूप और सर्वशक्तिमान हूँ।

योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥२८॥

सूत्रार्थ—योग के विभिन्न अंगों का अनुष्ठान करते-करते जब अपवित्रता का नाश हो जाता है, तब ज्ञान प्रदीप्त हो उठता है; उसकी अन्तिम सीमा है विवेकख्याति।

व्याख्या—अब साधन की बात कही जा रही है। अभी तक जो कुछ कहा गया, वह अपेक्षाकृत उच्चतर व्यापार है। वह अभी हमसे बहुत दूर है, किन्तु वही हमारा आदर्श है, हमारा एकमात्र लक्ष्य है। उस लक्ष्यस्थल पर पहुँचने के लिए पहले शरीर और मन को संयत करना आवश्यक है। तभी उस आदर्श में हमारी अनुभूति स्थायी हो सकेगी। हमारा लक्ष्य क्या है यह हमने जान लिया है, अब उसे प्राप्त करने के लिए साधन आवश्यक है।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-
समाधयोऽष्टावंगानि ॥२९॥

सूत्रार्थ—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ (योग के) अंग हैं।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥३०॥

सूत्रार्थ—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी का अभाव), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रह का अभाव)—ये पाँच यम कहलाते हैं।

व्याख्या—जो पूर्ण योगी होना चाहते है, उन्हे स्त्री-पुरुष-भेद का भाव छोड देना पडेगा। आत्मा के कोई लिंग नही है—उसमे न स्त्री है, न पुरुष, तब क्यो वह स्त्री-पुरुष के भेद-ज्ञान द्वारा अपने आपको कलुषित करे? बाद में हम और भी अच्छी तरह समझ सकेगे कि ये सब भाव हमे क्यो बिलकुल छोड देने चाहिए। चोरी जैसे एक कुकर्म है, परिग्रह यानी दूसरे के पास से कुछ ग्रहण करना भी वैसा ही एक कुकर्म है। उपहार ग्रहण करनेवाले मनुष्य के मन पर दाता के मन का असर पडता है, इसलिए ग्रहण करनेवाले के भ्रष्ट हो जाने की सम्भावना रहती है। दूसरे के पास से कुछ ग्रहण करने से मन की स्वाधीनता चली जाती है और हम मोल लिए हुए गुलाम के समान दाता के अधीन हो जाते है। अतएव किसी प्रकार का उपहार ग्रहण करना भी उचित नही।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥३१॥

सूत्रार्थ—ये सब (उक्त यम) जाति, देश, काल और समय यानी उद्देश्य के द्वारा अवच्छिन्न न होने पर सार्वभौम महाव्रत कहलाते है।

व्याख्या—ये सब साधन अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह प्रत्येक व्यक्ति के लिए—प्रत्येक पुरुष, स्त्री और बालक के लिए—बिना किसी जाति, देश या अवस्था के भेद से अनुष्ठेय है।

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥३२॥

सूत्रार्थ—बाह्य एव अन्त शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय (मन्त्र-जप या अध्यात्म-शास्त्रों का पठन-पाठन) और ईश्वरोपासना—(ये पाँच) नियम है।

व्याख्या—बाह्यशौच अर्थात् शरीर को पवित्र रखना;

अपवित्र मनुष्य कभी योगी नही हो सकता; इस बाह्यशौच के साथ-साथ अन्त.शौच भी आवश्यक है। समाधिपाद के ३३ वे सूत्र में जिन धर्मों (गुणो) की बात कही गई हैं, उनके पालन से यह अन्त शौच आता है। यह सत्य है कि बाह्यशौच से अन्त शौच अधिक उपकारी है, किन्तु दोनो की ही आवश्यकता है, और अन्त शौच के बिना केवल बाह्य शौच कोई फल उत्पन्न नही करता।

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥३३॥

सूत्रार्थ — वितर्क अर्थात् योग (यम और नियम) के विरोधी भाव उपस्थित होने पर उनके प्रतिपक्षी विचारो का बारम्बार चिन्तन करना चाहिए।

व्याख्या—ऊपर मे जिन सब धर्मों (गुणो) की बात कही गई है, उनके अभ्यास का यही उपाय है। उदाहरणार्थ, जब मन मे क्रोध की एक बडी तरग आती है, तब उसे कैसे वश मे लाया जाय ? उसके विपरीत एक तरग उठाकर। उस समय प्रेम की बात मन मे लाओ। कभी-कभी ऐसा होता है कि पत्नी अपने पति पर खूब गरम हो जाती है, उसी समय उसका बच्चा वहाँ आ जाता है और वह उसे गोद मे उठाकर चूम लेती है, इससे उसके मन में बच्चे के प्रति प्रेमरूप तरग उठने लगती है और वह पहले की तरंग को दबा देती है। प्रेम, क्रोध के विपरीत है। इसी प्रकार जब मन मे चोरी का भाव उठे, तो चोरी के विपरीत भाव का चिन्तन करना चाहिए। जब दान ग्रहण करने की इच्छा पैदा हो, तो उसके विपरीत भाव का चिन्तन करना चाहिए—आदि-आदि।

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानान्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥३४॥

सूत्रार्थ—वितर्क अर्थात् योग के विरोधी हैं हिंसा आदि भाव; (वे तीन प्रकार के होते हैं—) स्वयं किए हुए, दूसरों से करवाए हुए और अनुमोदन किए हुए, इनके कारण हैं—लोभ, क्रोध और मोह, इनमें भी कोई थोड़े परिमाण का, कोई मध्यम परिमाण का और कोई बहुत बड़े परिमाण का होता है, इनके अज्ञान और क्लेशरूप अनन्त फल हैं,—इस प्रकार (विचार करना ही) प्रतिपक्ष की भावना है।

व्याख्या—मैं स्वयं यदि कोई झूठ कहूँ, तो उससे जो पाप होता है, उतना ही पाप तब भी होता है, जब मैं दूसरे को झूठ बात कहने लगाता हूँ, अथवा दूसरे की किसी झूठ बात का अनुमोदन करता हूँ। वह झूठ भले ही जरासा हो, तो भी झूठ तो है ही। पर्वत की कन्दरा में भी बैठकर यदि तुम कोई पाप-चिन्तन करो, किसी के प्रति भीतर में घृणा का भाव पोषण करो, तो वह भी संचित रहेगा, और कालान्तर में फिर से वह तुम्हारे पास आकर तुम पर आघात करेगा, किसी-न-किसी दिन एक-न-एक प्रकार के दुःख के रूप में वह प्रबल वेग से तुम पर आक्रमण करेगा। यदि तुम अपने हृदय से ईर्ष्या और घृणा का भाव चारों ओर बाहर भेजो, तो वह चक्रवृद्धिब्याज सहित तुम पर आकर गिरेगा। दुनिया की कोई भी ताकत उसे रोक न सकेगी। यदि तुमने एक बार उस शक्ति को बाहर भेज दिया, तो फिर निश्चित जानो, तुम्हे उसका प्रतिघात सहन करना ही पड़ेगा। यह स्मरण रहने पर तुम कुकर्मों से बचे रह सकोगे।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥३५॥

सूत्रार्थ—भीतर में अहिंसा के प्रतिष्ठित हो जाने पर, उसके निकट सब प्राणी अपना स्वाभाविक वैर-भाव त्याग देते हैं।

व्याख्या—यदि कोई व्यक्ति अहिंसा की चरम अवस्था को प्राप्त कर ले, तो उसके सामने, जो सब प्राणी स्वभावतः ही

हिंस्र हैं वे भी शान्तभाव धारण कर लेते हैं। उस योगी के सामने शेर और मेमना एक साथ खेलेंगे। इस अवस्था की प्राप्ति होने पर ही समझना कि तुम्हारा अहिंसाव्रत दृढप्रतिष्ठित हो गया है।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥३६॥

सूत्रार्थ—जब सत्यव्रत हृदय में प्रतिष्ठित हो जाता है, तब कोई कर्म बिना किए ही अपने लिए या दूसरे के लिए कर्म का फल प्राप्त करने की शक्ति योगी में आ जाती है।

व्याख्या—जब सत्य की यह शक्ति तुममें प्रतिष्ठित हो जायगी, तब स्वप्न में भी तुम झूठ बात नहीं कहोगे। तब शरीर, मन और वचन से सत्य ही बाहर आयगा। तब तुम जो कुछ कहोगे, वही सत्य हो जायगा। यदि तुम किसी से कहो, "तुम कृतार्थ होओ," तो वह उसी क्षण कृतार्थ हो जायगा। किसी पीड़ित मनुष्य से यदि कहो, "रोगमुक्त हो जाओ," तो वह उसी समय स्वस्थ हो जायगा।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥३७॥

सूत्रार्थ—अस्तेय में प्रतिष्ठित हो जाने पर (उस योगी के सामने) सब प्रकार के धन-रत्न प्रकट हो जाते हैं।

व्याख्या—तुम जितना ही प्रकृति से दूर भागोगे, वह उतना ही तुम्हारा अनुसरण करेगी, और यदि तुम उसकी जरा भी परवाह न करो, तो वह तुम्हारी दासी बनकर रहेगी।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥३८॥

सूत्रार्थ—ब्रह्मचर्य की दृढ़ स्थिति हो जाने पर वीर्यलाभ होता है।

व्याख्या—ब्रह्मचर्यवान मनुष्य के मस्तिष्क में प्रबल शक्ति—महती इच्छाशक्ति संचित रहती है। ब्रह्मचर्य के बिना और किसी भी उपाय से आध्यात्मिक शक्ति नहीं आ सकती।

जितने महान् मस्तिष्कशाली पुरुष हो गए है, वे सभी ब्रह्मचर्य-वान थे। इसके द्वारा मनुष्य-जाति पर आश्चर्यजनक क्षमता प्राप्त की जा सकती है। मानवसमाज के सभी आध्यात्मिक नेता-गण ब्रह्मचर्यवान थे—उन्हे सारी शक्ति इस ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त हुई थी। अतएव योगी का ब्रह्मचर्यवान होना अनिवार्य है।

अपरिग्रहस्थैर्यं जन्मकथन्तासंबोधः ॥३९॥

सूत्रार्थ — अपरिग्रह के दृढप्रतिष्ठित हो जाने पर पूर्वजन्मो की बात स्मृति में उदित हो जाती है।

व्याख्या—जब योगी दूसरे के पास से कोई वस्तु स्वीकार नही करते, तब उन पर दूसरो का कोई असर नही पडता, वे किसी के द्वारा अनुगृहीत नही होते और इसलिए वे स्वाधीन एव मुक्त-स्वभाव हो जाते हैं। उनका मन शुद्ध हो जाता है। दान स्वीकार करने से दाता के पाप भी लेने की सम्भावना रहती है। इस परिग्रह को त्याग देने पर मन शुद्ध हो जाता है, और इससे जो सब फल प्राप्त होते है, उनमें पूर्वजन्म की स्मृति का उदय होना प्रथम है। तभी वे योगी सम्पूर्ण रूप से अपने लक्ष्य में दृढ होकर रह सकते है। वे देख लेते हैं कि इतने दिन तक वे केवल आवागमन कर रहे थे। तब वे दृढ प्रतिज्ञा कर लेते है कि अब की बार मैं अवश्य मुक्त होऊँगा, मैं अब और आवागमन नही करूँगा, प्रकृति का दास नही होऊँगा।

शौचात् स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्ग. ॥४०॥

सूत्रार्थ —शौच के प्रतिष्ठित हो जाने पर अपने शरीर के प्रति घृणा का उद्रेक होता है, दूसरो के साथ सग करने की भी फिर प्रवृत्ति नहीं रहती।

व्याख्या—जब यथार्थ वाह्य और आभ्यन्तर दोनो प्रकार

के शौच सिद्ध हो जाते है, तब शरीर के प्रति उदासीनता आ जाती है—उसे कैसे अच्छा रखे, कैसे वह सुन्दर दिखेगा, ये सब भाव बिलकुल चले जाते है। सासारिक लोग जिसे अत्यन्त सुन्दर मुख कहेगे, उसमें यदि ज्ञान का कोई चिह्न न हो, तो वही योगी के निकट पशु के मुख के समान प्रतीत होगा। संसार के मनुष्य जिस मुख मे कोई विशेषता नही देखते, उसके पीछे यदि चैतन्य का प्रकाश हो, तो योगी उसे स्वर्गीय मुखश्री कहेगे। यह देह-तृष्णा मानव-जीवन के लिए एक अभिशापस्वरूप है। अत शौच-प्रतिष्ठा का पहला लक्षण यह दिखेगा कि तुम शरीर के प्रति उदासीन हो जाओगे—तुम्हारे मन में यह विचार तक न उठेगा कि तुम्हारे शरीर है भी। जब यह पवित्रता हममे आती हैं, तभी हम देह-भाव के ऊपर उठ सकते हैं।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥४१॥

सूत्रार्थ—इसके सिवा (इस शौच से) सत्त्वशुद्धि, सौमनस्य अर्थात् मन का प्रफुल्ल भाव, एकाग्रता, इन्द्रियजय और आत्मदर्शन की योग्यता—ये पाँचो भी होते है।

व्याख्या—इस शौच के अभ्यास द्वारा सत्त्व पदार्थ का प्राबल्य होता है और मन एकाग्र एव प्रफुल्ल हो जाता है। तुम धर्म-पथ में अपने अग्रसर होने का प्रथम लक्षण यह देखोगे कि तुम दिन-पर-दिन बड़े प्रफुल्ल होते जा रहे हो। यदि कोई व्यक्ति विषादयुक्त दिखे, तो वह अजीर्ण का फल भले ही हो, पर धर्म का लक्षण नही हो सकता। सुख का भाव ही सत्त्व का स्वाभाविक धर्म है, सात्त्विक मनुष्य के लिए सभी सुखमय प्रतीत होते हैं। अत. जब तुममें यह आनन्द का भाव आता रहे, तो समझना कि तुम योग मे उन्नति कर रहे हो। सारे दु ख-कष्ट तमोगुण से

उत्पन्न होते है; अतएव तुम्हे उससे बचकर रहना होगा—उसको दूर कर देना होगा। विषादपूर्ण होकर चेहरा उतारे रहना तमोगुण का एक लक्षण है। सबल, दृढ, स्वस्थ, युवक और साहसी मनुष्य ही योगी बनने के योग्य है। योगी के लिए सभी सुखमय प्रतीत होते है, वे जिस किसी मनुष्य को देखते है, उसी से उनको आनन्द होता है। यही धार्मिक मनुष्य का चिह्न है। पाप ही कष्ट का कारण है, अन्य किसी कारण से कष्ट नही आता। उतरा हुआ चेहरा लेकर क्या होगा? कैसा भयानक दृश्य है वह! ऐसी सूरत लेकर बाहर मत जाना। किसी दिन ऐसा होने पर दरवाजा बन्द करके समय बिता देना। ससार के भीतर इस बीमारी को सक्रामित करने का तुम्हे क्या अधिकार है? जब तुम्हारा मन सयत हो जायगा, तब तुम पूरे शरीर को वश मे रख सकोगे। तब फिर तुम इस यन्त्र के दास नही बने रहोगे, यह देह-यन्त्र ही तुम्हारा दास होकर रहेगा। तब यह देह-यन्त्र आत्मा को खीचकर नीचे की ओर न ले जाकर उसकी मुक्ति में महान् सहायक हो जायगा।

सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः ॥४२॥

सूत्रार्थ—सन्तोष से परम सुख प्राप्त होता है।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥४३॥

सूत्रार्थ—तपस्या से जब अशुद्धि का नाश हो जाता है, तब शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि हो जाती है अर्थात् उनमें नाना प्रकार की शक्तियाँ आती हैं।

व्याख्या—तपस्या का फल कभी-कभी अचानक दूरदर्शन, दूरश्रवण इत्यादि रूप से प्रकाशित होता है।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥४४॥

सूत्रार्थ—मन्त्र के पुनः-पुनः उच्चारण या अभ्यास से इष्टदेवता के दर्शन होते हैं।

व्याख्या—जितने उच्च स्तर के जीव (देवता, ऋषि, सिद्ध) देखने की इच्छा करोगे, अभ्यास भी उतना ही अधिक करना पड़ेगा।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥४५॥

सूत्रार्थ—ईश्वर में समस्त अर्पण करने से समाधि-लाभ होता है।

व्याख्या—ईश्वर पर निर्भरता से समाधि की पूर्णता होती है।

स्थिरसुखमासनम् ॥४६॥

सूत्रार्थ—स्थिर भाव से सुखपूर्वक बैठने का नाम आसन है।

व्याख्या—अब आसन की बात कही जायगी। जब तक तुम स्थिर भाव से बहुत समय तक बैठे रहने में समर्थ नही होते, तब तक प्राणायाम एव अन्यान्य साधनो मे किसी प्रकार सफल नही हो सकोगे। आसन के स्थिर होने का तात्पर्य है—शरीर के अस्तित्व का बिलकुल भान तक न होना। साधारणत यह देखा जाता है कि ज्योही तुम चन्द मिनट के लिए बैठते हो, त्योही शरीर में नाना प्रकार के विकार आने लगते है। पर जब तुम स्थूल देहभाव के परे चले जाओगे, तब तुम्हे शरीर का भान तक न रहेगा। फिर तुम सुख या दु ख कुछ भी अनुभव नही करोगे। जब फिर से तुम्हे शरीर का ज्ञान आयगा, जब तुम आसन से उठोगे, तो ऐसा लगेगा कि तुमने बहुत समय तक विश्राम किया है। यदि शरीर को सम्पूर्ण विश्राम देना सम्भव हो, तो वह इसी प्रकार हो सकता है। जब तुम इस प्रकार शरीर को अपने अधीन करके उसे दृढ रख सकोगे, तब जानना कि तुम्हारा साधन भी दृढ हुआ है। किन्तु जब तक शारीरिक विघ्न-बाधाएँ आती रहेगी, तब तक तुम्हारे स्नायु चचल रहेगे और तुम किसी भी प्रकार मन को एकाग्र न कर सकोगे।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥४७॥

सूत्रार्थ—शरीर में एक प्रकार का जो अभिमानात्मक प्रयत्न है (अर्थात् चचलता की ओर शरीर की जो एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है), उसे शिथिल कर देने से और अनन्त के चिन्तन से (आसन स्थिर और सुखकर होता है)।

व्याख्या—अनन्त के चिन्तन के द्वारा आसन अविचलित (स्थिर) हो सकता है। पर हाँ, हम उस सर्वद्वन्द्वातीत अनन्त (ब्रह्म) के बारे मे (सरलता से) चिन्तन नही कर सकते, किन्तु, हम अनन्त आकाश के बारे में सोच सकते है।

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥४८॥

सूत्रार्थ—इस प्रकार आसन सिद्ध हो जाने पर, तब द्वन्द्वपरम्परा और कुछ विघ्न उत्पन्न नहीं कर सकती।

व्याख्या—द्वन्द्व का अर्थ है शुभ-अशुभ, शीत-उष्ण, आलोक-अँधेरा, सुख-दु ख आदि विपरीत धर्मवाले दो-दो पदार्थ। ये सब फिर तुम्हे चचल नही कर सकेगे।

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥४९॥

सूत्रार्थ—उस आसन की सिद्धि होने के बाद श्वास और प्रश्वास दोनो की गति को सयत करना प्राणायाम कहलाता है।

व्याख्या—जब यह आसन सिद्ध हो जाता है, तब इस श्वास-प्रश्वास की गति को रोककर उस पर जय प्राप्त करना पड़ेगा। अत अब प्राणायाम का विषय आरम्भ होता है। प्राणायाम क्या है? शरीरस्थित जीवनी-शक्ति को वश में लाना। यद्यपि 'प्राण' शब्द बहुधा श्वास के अर्थ में प्रयुक्त होता है, तो भी वास्तव में वह श्वास नही है। प्राण का अर्थ है जागतिक समस्त शक्तियो की समष्टि। यह वह शक्ति है, जो प्रत्येक देह

में अवस्थित है, और उसका ऊपरी प्रकाश है—फेफड़े की यह गति। प्राण जब श्वास को भीतर की ओर खींचता है, तभी यह गति शुरू होती है, प्राणायाम करने के समय हम उसी को संयत करने का प्रयत्न करते है। इस प्राण पर अधिकार प्राप्त करने के लिए हम पहले श्वास-प्रश्वास को सयत करना शुरू करते हैं, क्योकि वही प्राण-जय का सबसे सरल मार्ग है।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिः देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घ-सूक्ष्मः ॥५०॥

सूत्रार्थ—बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति के भेद से यह प्राणायाम तीन प्रकार का है, देश, काल और संख्या के द्वारा नियमित तथा दीर्घ या सूक्ष्म होने के कारण उनमें भी फिर नाना प्रकार के भेद है।

व्याख्या—यह प्राणायाम तीन प्रकार की क्रियाओ में विभक्त है। पहली—जब हम श्वास को अन्दर खीचते और धारण करते है, दूसरी—जब हम उसे वाहर निकालते और धारण करते है, तीसरी—जब श्वास और प्रश्वास को फेफडे के भीतर या उसके वाहर रोकते है। ये फिर देश, काल और सख्या के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप धारण करते है। देश का अर्थ है—प्राण को शरीर के किसी अशविशेष मे आबद्ध रखना। समय का अर्थ है—प्राण को किस स्थान मे कितने समय तक रखना होगा, इस वात का ज्ञान, और सख्या का अर्थ है—यह जान लेना कि कितनी बार ऐसा करना होगा। इसीलिए कहां पर, कितने समय तक और कितनी बार रेचक आदि करना होगा, इत्यादि कहा जाता है। इस प्राणायाम का फल है उद्घात अर्थात् कुण्डलिनी का जागरण।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥५१॥

सूत्रार्थ—चौथे प्रकार का प्राणायाम वह है, जिसमें प्राणायाम के समय बाह्य या आभ्यन्तर किसी विषय का चिन्तन किया जाता है।

व्याख्या—यह चौथे प्रकार का प्राणायाम है। इसमें चिन्तन के साथ दीर्घकाल तक अभ्यास करते रहने से कुम्भक होता है। दूसरे प्राणायामो में चिन्तन का सम्पर्क नही रहता।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥५२॥

सूत्रार्थ—उस (प्राणायाम के अभ्यास) से (चित्त के) प्रकाश का आवरण क्षीण हो जाता है।

व्याख्या—चित्त में स्वभावत समस्त ज्ञान भरा है, वह सत्त्व पदार्थ द्वारा निर्मित है, पर रज और तम पदार्थों से ढका हुआ है। प्राणायाम के द्वारा चित्त का यह आवरण चला जाता है।

धारणासु च योग्यता मनसः ॥५३॥

सूत्रार्थ—(उसी से) धारणा में मन की योग्यता भी (होती है)।

व्याख्या—यह आवरण चले जाने पर हम मन को एकाग्र करने मे समर्थ होते है।

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥५४॥

सूत्रार्थ—जब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को छोडकर मानो चित्त का स्वरूप ग्रहण करती है, तब उसे प्रत्याहार कहते है।

व्याख्या—ये इन्द्रियाँ मन की ही विभिन्न अवस्थाएँ मात्र है। मै एक पुस्तक देखता हूँ। वास्तव में, वह पुस्तक-आकृति बाहर में नही है। वह तो मन में है। बाहर की कोई चीज उस आकृति को केवल जगा भर देती है, वास्तव में तो वह चित्त में ही है।

इन इन्द्रियों के सामने जो कुछ आता है, उसके साथ ये मिश्रित होकर, उसी का आकार धारण कर लेती है। यदि तुम चित्त को ये सब विभिन्न आकृतियाँ धारण करने से रोक सको, तभी तुम्हारा मन शान्त होगा और इन्द्रियाँ भी मन के अनुरूप हो जायँगी। इसी को प्रत्याहार कहते है।

तत परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥५५॥

सूत्रार्थ—उस (प्रत्याहार) से इन्द्रियों पर सम्पूर्ण रूप से जय प्राप्त हो जाती है।

व्याख्या—जब योगी इन्द्रियो को इस प्रकार बाहरी वस्तु का आकार धारण करने से रोक सकते हैं और चित्त के साथ उन्हे एक करके रखने में सफल होते है, तभी इन्द्रियो पर पूर्ण रूप से जय प्राप्त होता हैं। और जब इन्द्रियाँ पूरी तरह विजित हो जाती है, तब एक-एक स्नायु, एक-एक माँसपेशी तक हमारे वश में आ जाती है, क्योकि इन्द्रियाँ ही सब प्रकार की सवेदना (अनुभूति) और कार्य की केन्द्रस्वरूप है। ये इन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय, इन दो भागो में विभक्त है। अत जब इन्द्रियाँ संयत होगी, तब योगी सब प्रकार के भावो और कार्यो पर जय-लाभ कर सकेगे। सारा शरीर ही उनके अधीन हो जायगा। ऐसी अवस्था प्राप्त होने पर ही मनुष्य देह-धारण में आनन्द अनुभव करने लगता है। तभी वह सत्यतापूर्वक कह सकता है, "मै धन्य हूँ जो मेरा जन्म हुआ!" जब इन्द्रियो पर ऐसा अधिकार प्राप्त हो जाता है, तभी हम यह अनुभव कर सकते हैं कि यह शरीर भी कैसी अद्भुत चीज है!

तृतीय अध्याय

विभूतिपाद

अव हम विभूतिपाद मे आते है।

देशवन्धश्चित्तस्य धारणा ॥१॥

सूत्रार्थ--चित्त को किसी विशेष वस्तु में आवद्ध करके रखने का नाम है धारणा।

व्याख्या—जव मन शरीर के भीतर या उसके वाहर किसी वस्तु के साथ सलग्न होता है और कुछ समय तक उसी तरह रहता है, तो उसे धारणा कहते है।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥२॥

सूत्रार्थ—वह वस्तुविषयक ज्ञान निरन्तर एक रूप से प्रवाहित होते रहने पर उसे ध्यान कहते हैं ।

व्याख्या—मान लो, मन किसी एक विषय को सोचने का प्रयत्न कर रहा है, किसी एक विशेष स्थान में--जैसे, मस्तक के ऊपर अथवा हृदय आदि मे—अपने को पकड रखने का प्रयत्न कर रहा है। यदि मन शरीर के केवल उस अंश के द्वारा सवेदनाओ (अनुभूतियो) को ग्रहण करने मे समर्थ होता है, शरीर के शेष सव भागो को यदि विषय-ग्रहण से विवृत रख सकता है, तो उसका नाम धारणा है, और जव वह अपने को कुछ समय तक उसी अवस्था में रखने मे समर्थ होता है, तो उसका नाम है ध्यान।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि ॥३॥

सूत्रार्थ—वही (ध्यान) जव समस्त वाहरी उपाधियों को छोड़कर अर्थ मात्र को ही प्रकाशित करता है, तव उसे समाधि कहते हैं।

व्याख्या—जब ध्यान में वस्तु का रूप या बाहरी भाग परित्यक्त हो जाता है, तभी यह समाधि-अवस्था आती है। मान लो, मै इस पुस्तक के बारे मे ध्यान कर रहा हूँ और सोचो, मैं उसमें चित्त-संयम करने मे सफल हो गया। तब केवल, बिना किसी रूप मे प्रकाशित, अर्थ नामक आभ्यन्तरिक सवेदनाएँ (अनुभूतियाँ) ही मेरे ज्ञान में आने लगती है। ध्यान की इस अवस्था को समाधि कहते है।

त्रयमेकत्र संयमः ॥४॥

सूत्रार्थ—इन तीनो का जब एक साथ अर्थात् एक ही वस्तु के सम्बन्ध में अभ्यास किया जाता है, तब उसे संयम कहते हैं।

व्याख्या—जब कोई व्यक्ति अपने मन को किसी निर्दिष्ट वस्तु की ओर ले जाकर उस वस्तु में कुछ समय तक के लिए धारण कर सकता है, और फिर उसके अन्तर्भाग को उसके बाहरी आकार से अलग करके बहुत समय तक रख सकता है, तभी समझना चाहिए कि संयम हुआ। अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि, ये तीनों क्रमश एक के बाद एक, किसी एक वस्तु के ऊपर होने पर एक सयम हुआ। तब उस वस्तु का बाहरी आकार न जाने कहाँ चला जाता है, मन में केवल उसका अर्थ मात्र उद्भासित होता रहता है।

तज्जयात् प्रज्ञालोकः ॥५॥

सूत्रार्थ—उसको जीत लेने से ज्ञानालोक का प्रकाश होता है।

व्याख्या—जब कोई मनुष्य इस संयम के साधन में सफल हो जाता है, तब सारी शक्तियाँ उसके हाथ मे आ जाती हैं। यह सयम ही योगी के ज्ञानलाभ का प्रधान यन्त्रस्वरूप है। ज्ञान के विषय अनन्त है। वे स्थूल, स्थूलतर, स्थूलतम और सूक्ष्म,

सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम आदि नाना विभागो में विभक्त हैं। इस संयम का प्रयोग पहले स्थूल वस्तु पर करना चाहिए, और जब स्थूल का ज्ञान प्राप्त होने लगे, तब थोडा-थोड़ा करके सोपान-क्रम से सूक्ष्मतर वस्तु पर उसका प्रयोग करना चाहिए।

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥६॥

सूत्रार्थ—उस (संयम) का प्रयोग सोपान-क्रम से करना चाहिए।

व्याख्या—जल्दबाजी मत करना। यह सूत्र इस प्रकार हमे सावधान कर दे रहा है।

त्रयमन्तरंगं पूर्वेभ्यः ॥७॥

सूत्रार्थ—पहले कहे गए (साधनो) की अपेक्षा ये तीनो (साधन अधिक) अन्तरग है।

व्याख्या—इनके पहले यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार की बात कही गई है। वे धारणा, ध्यान और समाधि की अपेक्षा वहिरग है। इन धारणा आदि अवस्थाओ को प्राप्त करने पर मनुष्य सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान अवश्य हो सकता है, पर सर्वज्ञता अथवा सर्वशक्तिमत्ता तो मुक्ति नही है। केवल इन तीन प्रकार के साधनो द्वारा मन निर्विकल्प अर्थात् परिणामशून्य नही हो सकता, इन त्रिविध साधनो का अभ्यास होने पर भी देह-धारण का वीज रह जाता है। जब वह बीज, जैसा कि योगीगण कहते हैं, भून दिया जाता है, तभी उसकी पुन वृक्ष उत्पन्न करने की शक्ति जाती रहती है। ये शक्तियाँ उस बीज को कभी भून नही सकती।

तदपि बहिरंगं निर्बीजस्य ॥८॥

सूत्रार्थ—पर वे (धारणा आदि तीनों) भी निर्बीज (समाधि) की तुलना में बहिरग (साधन) हैं।

व्याख्या—इसी कारण निर्बीज समाधि के साथ तुलना करने पर इनको भी बहिरग कहना पडेगा। सयम-लाभ होने पर हम वस्तुत सर्वोच्च समाधि-अवस्था की प्राप्ति नही कर लेते, वरन् एक निम्नतर भूमि मे अवस्थित रहते है। उस अवस्था में यह परिदृश्यमान जगत् विद्यमान रहता है, और सब सिद्धियाँ इस जगत् के ही अन्तर्गत हैं।

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ
निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥९॥

सूत्रार्थ—जब व्युत्थान अर्थात् मन की चचलता का अभिभव (नाश) और निरोध-सस्कार का आविर्भाव हो जाता है, उस समय चित्त निरोध नामक सस्कार के अनुगत होता है, उसे निरोध-परिणाम कहते हैं।

व्याख्या—इसका तात्पर्य यह है कि समाधि की पहली अवस्था मे मन की समस्त वृत्तियाँ निरुद्ध अवश्य होती हैं, किन्तु सम्पूर्ण रूप से नही, क्योकि वैसा होने पर तो किसी प्रकार की वृत्ति ही न रह जाती। मान लो, मन मे एक ऐसी वृत्ति उठी है, जो मन को इन्द्रिय की ओर ले जा रही है, और योगी उस वृत्ति को सयत करने का प्रयत्न कर रहे है। इस अवस्था मे उस सयम को भी एक वृत्ति कहना पडेगा। एक लहर मानो दूसरी लहर द्वारा रोकी गई है, अत· वह समस्त लहरो की निवृत्तिरूप समाधि नही है, क्योकि वह संयम भी एक लहर है। फिर भी, जिस अवस्था में मन में तरग के बाद तरग उठती रहती है, उसकी अपेक्षा यह निम्नतर समाधि उस उच्चतर समाधि के अधिक समीपवर्ती है।

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥१०॥

सूत्रार्थ—अभ्यास के द्वारा इसकी स्थिरता होती है।

व्याख्या—प्रतिदिन नियमित रूप से अभ्यास करने पर मन का यह नियत संयम प्रवाहाकार में चलता रहता है एवं उसकी स्थिरता होती है, और तब मन सदैव एकाग्रशील रह सकता है।

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥११॥

सूत्रार्थ—सब प्रकार के विषयों का चिन्तन करने की वृत्ति का क्षय हो जाना और किसी एक ही ध्येयविषय का चिन्तन करनेवाली एकाग्रता-शक्ति का उदय हो जाना—यह चित्त का समाधि-परिणाम है।

व्याख्या—मन सर्वदा ही नाना प्रकार के विषय ग्रहण कर रहा है, सदैव सब प्रकार की वस्तुओं में जा रहा है। फिर मन की ऐसी भी एक उच्चतर अवस्था है, जब वह केवल एक ही वस्तु को ग्रहण करके अन्य सब वस्तुओं को छोड़ दे सकता है। इस एक वस्तु को ग्रहण करने का फल है समाधि।

शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणाम ॥१२॥

सूत्रार्थ—जब मन शान्त और उदित अर्थात् अतीत और वर्तमान दोनों अवस्थाओं में ही तुल्य-प्रत्यय हो जाता है, अर्थात् दोनों को ही एक साथ ग्रहण कर सकता है, तब उसे चित्त का एकाग्रता-परिणाम कहते हैं।

व्याख्या—मन एकाग्र हुआ है, यह कैसे जाना जाय? मन के एकाग्र हो जाने पर समय का कोई ज्ञान न रहेगा। जितना ही समय का ज्ञान जाने लगता है, हम उतने ही एकाग्र होते जाते हैं। हम अपने दैनिक जीवन में भी देख पाते हैं कि जब हम कोई पुस्तक पढ़ने में तल्लीन रहते हैं, तब समय की ओर हमारा बिलकुल ध्यान नहीं रहता। जब हम पढ़कर उठते हैं, तो अचरज करने लगते हैं कि इतना समय बीत गया! सारा समय मानो एकत्र होकर वर्तमान में एकीभूत हो जाता है। इसी-

लिए कहा गया है कि अतीत, वर्तमान और भविष्य आकर जितना ही एकीभूत होते जाते है, मन उतना ही एकाग्र होता जाता है ।

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥१३॥

सूत्रार्थ—इसी से भूतो में और इन्द्रियों में होनेवाले धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम—(ये तीनों) कहे जा चुके ।

व्याख्या—पीछे के तीन सूत्रो में चित्त के निरोध आदि परिणामो की जो बात कही गई है, उसके द्वारा भूतो और इन्द्रियो के धर्म, लक्षण और अवस्थारूप तीन प्रकार के परिणामो की भी व्याख्या कर दी गई । मन लगातार वृत्ति के रूप में परिणत हो रहा है, यह मन का धर्मरूप परिणाम है । वह अतीत, वर्तमान और भविष्य इन तीन कालो के भीतर से होकर चल रहा है, यह मन का लक्षणरूप परिणाम है । कभी निरोधसस्कार प्रबल और व्युत्थानसस्कार दुर्बल हो जाता है, तो कभी ठीक इसका उलटा होता है, यह मन का अवस्थारूप परिणाम है । मन के इन तीन परिणामो के समान भूतो और इन्द्रियो के भी त्रिविध परिणाम समझना चाहिए । जैसे, मिट्टी का पिण्ड जब अपना पिण्डरूप धर्म छोडकर घटरूप धर्म मे परिणत हो जाता है, तब उसे धर्म-परिणाम कहते है । जब इसी घटना को हम समय की दृष्टि से देखते है अर्थात् उसके वर्तमान, अतीत और भविष्य अवस्थारूप परिणामो को देखते हैं, तब उसे लक्षण-परिणाम कहते है । फिर उसके नवीनत्व, पुरातनत्व आदि अवस्थारूप परिणामो को अवस्था-परिणाम कहते है ।

पहले के सूत्रो मे जिन सब समाधियो की बात कही गई है, उनका उद्देश्य यह है कि योगी मन के परिणामो पर इच्छापूर्वक क्षमता प्राप्त कर सके । उससे पूर्वोक्त सयमशक्ति प्राप्त होती है ।

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥१४॥

सूत्रार्थ—शान्त (अतीत), उदित (वर्तमान) और अव्यपदेश्य (आनेवाले) धर्म जिसमें अवस्थित है, वह धर्मी है।

व्याख्या—धर्मी उसे कहते है, जिस पर काल और संस्कार कार्य कर रहे हैं, जिसमें सतत परिणाम हो रहा है और जो हरदम व्यक्त भाव धारण कर रहा है।

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥१५॥

सूत्रार्थ—भिन्न-भिन्न परिणाम होने का कारण है क्रम की भिन्नता (पूर्वापर पार्थक्य)।

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥१६॥

सूत्रार्थ—पूर्वोक्त तीन परिणामों में चित्त-संयम करने से अतीत और अनागत (भविष्य) का ज्ञान उत्पन्न होता है।

व्याख्या—पहले संयम की जो परिभाषा दी गई है, हम उसे न भूले। जब मन वस्तु के बाहरी भाग को छोडकर उसके आभ्यन्तरिक भावो के साथ अपने को एकरूप करने की उपयुक्त अवस्था में पहुँच जाता है, जब दीर्घ अभ्यास के द्वारा मन केवल उसी की धारणा करके क्षण भर मे उस अवस्था मे पहुँच जाने की शक्ति प्राप्त कर लेता है, तब उसे संयम कहते है। इस अवस्था को प्राप्त करके यदि योगी भूत और भविष्य जानने की इच्छा करे, तो उन्हें केवल संस्कार के परिणामो मे संयम का प्रयोग करना होगा। कुछ संस्कार वर्तमान अवस्था में कार्य कर रहे हैं, कुछ का भोग समाप्त हो चुका है और कुछ अभी भी फल प्रदान करने के लिए संचित हैं। इन सबो में संयम का प्रयोग करके वे भूत और भविष्य सब जान लेते हैं।

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभाग-
संयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥१७॥

सूत्रार्थ—शब्द, अर्थ और प्रत्यय (ज्ञान)—इनको, आपस में अध्यास हो जाने के कारण, जो संकरावस्था हो रही है, उसके विभाग में संयम करने से समस्त प्राणियो की वाणी का ज्ञान (हो जाता है)।

व्याख्या—शब्द से उस बाह्य विषय का बोध होता है, जो मन में किसी वृत्ति को जागरित कर देता है। अर्थ कहने से शरीर मे का वह प्रवाह समझना चाहिए, जो इन्द्रिय-द्वार से प्राप्त विषयो के अभिघात से उत्पन्न हुई सवेदना को ले जाकर मस्तिष्क में पहुँचा देता है। और ज्ञान कहने से मन की उस प्रतिक्रिया को समझना चाहिए, जिससे विषयानुभूति होती है। इन तीनों के मिश्रित होने से ही हमारे इन्द्रियग्राह्य विषय उत्पन्न होते हैं। मान लो, मैंने एक शब्द सुना, पहले बाहर में एक कम्पन हुआ, तत्पश्चात् श्रवणेन्द्रिय द्वारा मन में एक बोध-प्रवाह गया, उसके बाद मन ने प्रतिक्रिया की, और मैं उस शब्द को जान सका। मैंने यह जो उस शब्द को जाना है, वह तीन पदार्थों का मिश्रण है—पहला, कम्पन, दूसरा, अनुभूतिप्रवाह, और तीसरा, प्रतिक्रिया। साधारणत, ये तीन व्यापार पृथक् नही किए जा सकते, पर अभ्यास के द्वारा योगी उनको पृथक् कर सकते हैं। जब मनुष्य इनको अलग करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है, तब वह फिर जिस किसी शब्द में सयम का प्रयोग करे, वह उसी क्षण उस अर्थ को समझ सकता है, जिसको प्रकाशित करने के लिए वह शब्द उच्चारित हुआ है, फिर वह शब्द चाहे मनुष्य द्वारा किया गया हो, चाहे अन्य किसी प्राणी द्वारा।

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ॥१८॥

सूत्रार्थ—सस्कारो को प्रत्यक्ष कर लेने से पूर्वजन्म का ज्ञान (हो जाता है)।

व्याख्या—हम जो कुछ अनुभव करते है, वह समस्त हमारे चित्त मे तरग के रूप में आया करता है। वह फिर चित्तरूपी सरोवर की तली मे चला जाता है और क्रमश सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता जाता है। वह विलकुल नष्ट नही हो जाता। वह वहाँ जाकर अत्यन्त सूक्ष्मभाव से रहता है। यदि हम उस तरग को फिर से ऊपर ला सके, तो वही स्मृति कहलाती है। अतएव योगी यदि मन से इन सब पूर्वसस्कारो में सयम कर सके, तो वे पूर्वजन्म की वाते स्मरण करना आरम्भ कर देंगे।

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥१९

सूत्रार्थ—दूसरे के शरीर में जो सब चिह्न है, उनमें संयम करने से उस व्यक्ति के मन का ज्ञान (हो जाता है)।

व्याख्या—प्रत्येक व्यक्ति के शरीर मे कुछ विशिष्ट चिह्न रहते है, जिनके द्वारा उसको दूसरे व्यक्तियो से पृथक् करके पहचाना जाता है। जब योगी किसी मनुष्य के इन विशेष चिह्नो में सयम करते हैं, तब वे उस मनुष्य के मन का स्वभाव जान लेते है।

न च तत् सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥२०॥

सूत्रार्थ—किन्तु उस चित्त का अवलम्बन क्या है, यह वे नहीं जान सकते, क्योंकि वह उनके सयम का विषय नहीं है।

व्याख्या—ऊपर के सूत्र मे शरीर के चिह्नो मे सयम की जो वात कही गई है, उसके द्वारा उस व्यक्ति के मन में उस

समय क्या चल रहा है, यह नही जाना जा सकता। उसको जानने के लिए तो दो बार सयम करने की आवश्यकता होगी, पहले, शरीर के लक्षणों मे, और उसके बाद मन में। तब योगी उस व्यक्ति के मन के समस्त भाव जान लेगे।

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे
चक्षुःप्रकाशासंयोगेऽन्तर्धानम्॥२१॥

सूत्रार्थ—शरीर के रूप में संयम कर लेने से जब उस रूप को अनुभव करने की शक्ति रोक ली जाती है, तब आंख की प्रकाश-शक्ति के साथ उसका संयोग न रहने के कारण योगी अन्तर्धान हो जाते है।

व्याख्या—मान लो, कोई योगी इस कमरे में खड़े हैं। वे आपातदृष्टि से सबके सामने से अन्तर्धान हो सकते हैं। वे वास्तव में अन्तर्धान हो जाते हो, सो बात नही, पर हाँ, कोई उन्हे देख न सकेगा, बस इतना ही। शरीर का रूप और शरीर—इन दोनो को मानो वे अलग-अलग कर डालते है। जब योगी ऐसी एकाग्रता-शक्ति प्राप्त कर लेते है कि वे वस्तु के रूप और उस वस्तु को एक-दूसरे से अलग कर डालते हैं, तभी इस प्रकार की अन्तर्धान-शक्ति उन्हे प्राप्त होती है। उसमें अर्थात् रूप और उस रूपवान् वस्तु के पार्थक्य में सयम का प्रयोग करने से उस रूप को अनुभव करने की शक्ति मे मानो एक बाधा पड़ती है; क्योंकि रूप और उस रूपविशिष्ट वस्तु के परस्पर संयुक्त होने पर ही हमे उस वस्तु का ज्ञान होता है।

एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तम् ॥२२॥

सूत्रार्थ—इसके द्वारा ही शब्द आदि के अन्तर्धान होने की अर्थात् शब्द आदि को दूसरों को इन्द्रियगोचर न होने देने की भी व्याख्या कर दी गई।

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्त-
ज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥२३॥

सूत्रार्थ—शीघ्र फल उत्पन्न करनेवाला और देर से फल देनेवाला—ऐसे दो प्रकार के कर्म होते हैं। इनमें संयम करने से, अथवा अरिष्ट-नामक मृत्युलक्षणो से भी, योगीगण देहत्याग का ठीक समय जान लेते हैं।

व्याख्या—जब योगी अपने कर्म मे—अर्थात् अपने मन के उन सस्कारो में, जिनका कार्य आरम्भ हो गया है तथा उनमें, जिनका कार्य अभी आरम्भ नही हुआ है—सयम का प्रयोग करते हैं, तब वे उन सस्कारो के द्वारा, जिनका कार्य अभी आरम्भ नही हुआ है, यह ठीक जान लेते हैं कि उनकी मृत्यु कब होगी। किस समय, किस दिन, कितने बजे, यहाँ तक कि कितने मिनट पर उनकी मृत्यु होगी—यह सब उन्हें ज्ञात हो जाता है। हिन्दू लोग मृत्यु की इस निकटता को जान लेना विशेष आवश्यक समझते है, क्योकि गीता मे यह उपदेश है कि मृत्यु-समय के विचार आनेवाले जीवन को नियमित करने के लिए विशेष प्रयोजनीय कारणस्वरूप है।

मैत्र्यादिषु बलानि ॥२४॥

सूत्रार्थ—मैत्री आदि गुणों (१।३३) में संयम करने से वे सब गुण अत्यन्त प्रबल भाव धारण करते हैं।

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥२५॥

सूत्रार्थ—हाथी आदि के बल में सयम का प्रयोग करने से योगी के शरीर में उस-उस प्राणी के सदृश बल आ जाता है।

व्याख्या— जब योगी यह सयम-शक्ति प्राप्त कर लेते हैं, तब यदि वे बल की इच्छा करे, तो हाथी के बल मे सयम का प्रयोग करके वे हाथी के समान बल प्राप्त कर लेते हैं।

प्रत्येक मनुष्य में अनन्त शक्ति निहित है। यदि वह उपाय जानता हो, तो वह उस शक्ति का इच्छानुसार व्यवहार कर सकता है। योगी ने उसे प्राप्त करने की विद्या खोज निकाली है।

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥२६॥

सूत्रार्थ—(पहले कही गई, १।३६,) महाज्योति में संयम करने से सूक्ष्म, व्यवधान-युक्त और दूरवर्ती वस्तुओ का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—हृदय मे जो महाज्योति है, उसमें सयम करने से योगी अत्यन्त दूरवर्ती वस्तु को भी देख सकते है। यदि कोई वस्तु पहाड के अन्तराल में रहे, तो उसे भी वे देख लेते है, और अत्यन्त सूक्ष्म वस्तुओ का भी उन्हे ज्ञान हो जाता है।

भुवनज्ञानं सूर्ये सयमात्॥२७॥

सूत्रार्थ—सूर्य में सयम करने से सम्पूर्ण जगत् का ज्ञान (प्राप्त हो जाता है)।

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥२८॥

सूत्रार्थ—चन्द्रमा में (सयम करने से) तारासमूह का ज्ञान (हो जाता है)।

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥२९॥

सूत्रार्थ—ध्रुव तारे में (सयम करने से) ताराओं की गति का ज्ञान (हो जाता है)।

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥३०॥

सूत्रार्थ—नाभिचक्र में (सयम करने से) शरीर की बनावट ज्ञात हो जाती है।

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥३१॥

सूत्रार्थ—कण्ठकूप में (सयम करने से) भूख और प्यास की निवृत्ति हो जाती है।

व्याख्या—अत्यन्त भूखा मनुष्य यदि कण्ठकूप में चित्त का संयम कर सके, तो उसकी भूख शान्त हो जाती है।

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥३२॥

सूत्रार्थ—कूर्मनाडी में (सयम करने से) शरीर की स्थिरता होती है।

व्याख्या—जब वे साधना करते है, तब उनका शरीर चञ्चल नही होता।

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥३३॥

सूत्रार्थ—सिर की ज्योति में (सयम करने से) सिद्धपुरुषो के दर्शन होते है।

व्याख्या—यहाँ सिद्ध का तात्पर्य भूतयोनि की अपेक्षा थोडी उच्च योनि से है। जब योगी अपने सिर के ऊपरी भाग में मन सयम करते है, तब वे इन सिद्धो के दर्शन करते हैं। यहाँ पर 'सिद्ध' शब्द से मुक्त पुरुप नही समझना चाहिए।

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥३४॥

सूत्रार्थ—अथवा प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न होने से समस्त ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—प्रातिभ ज्ञान अर्थात् प्रतिभा की शक्ति अर्थात् पवित्रता के द्वारा लब्ध ज्ञानविशेप के प्राप्त हो जाने पर विना किसी प्रकार के सयम के ही समस्त ज्ञान प्राप्त हो सकता है। जब मनुष्य उच्च प्रतिभाशक्ति प्राप्त कर लेता है, तब उसे इस महा आलोक की प्राप्ति हो जाती है। उसके ज्ञान से समस्त प्रकाशित हो जाता है। विना किसी प्रकार का सयम किए ही उसे आप-से-आप समस्त ज्ञान प्राप्त होता जाता है।

हृदये चित्तसंवित् ॥३५॥

सूत्रार्थ—हृदय में (सयम करने से) मनोविषयक ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात् स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम् ॥३६॥

सूत्रार्थ—पुरुष और बुद्धि, जो कि अत्यन्त पृथक् हैं—उनके विवेक के अभाव से ही भोग होता है। वह भोग परार्थ है अर्थात् किसी अन्य या पुरुष के लिए है। बुद्धि की एक दूसरी अवस्था का नाम है स्वार्थ; उसमें संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है।

व्याख्या—पुरुष और बुद्धि वास्तव मे सर्वथा भिन्न हैं; ऐसा होने पर भी पुरुष बुद्धि मे प्रतिबिम्बित होकर उसके साथ अपने को अभेद समझता है और उसी से अपने को सुखी या दु खी अनुभव करता रहता है। बुद्धि की इस अवस्था को परार्थ कहते है, क्योंकि उसके सारे भोग अपने लिए नही, वरन् पुरुष के लिए है। इसके सिवा वुद्धि की और एक अवस्था है—उसका नाम है स्वार्थ। जव वुद्धि सत्त्वप्रधान होकर अत्यन्त निर्मल हो जाती है और उसमे पुरुष विशेष रूप से प्रतिबिम्बित होता है, तब वह बुद्धि अन्तर्मुखी होकर केवल पुरुष का अवलम्वन करती है। उस 'स्वार्थ' नामक बुद्धि में संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है। केवल पुरुष का अवलम्वन करनेवाली बुद्धि मे संयम करने को कहने का तात्पर्य यह है कि शुद्ध पुरुष ज्ञाता होने के कारण कभी ज्ञान का विषय नही बन सकता।

ततः प्रातिभश्रवणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥३७॥

सूत्रार्थ—उससे प्रातिभ ज्ञान और (अलौकिक) श्रवण, स्पर्श, दर्शन, स्वाद एवं वार्ता (घ्राण)—ये (छ सिद्धियाँ) प्रकट होती हैं।

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धय ॥३८॥

सूत्रार्थ—ये (छहों) समाधि में उपसर्ग (विघ्न) हैं, पर व्युत्थान (संसार-अवस्था) में सिद्धिस्वरूप हैं।

व्याख्या—योगी जानते है कि संसार के यावत् भोग पुरुष और मन के सयोग द्वारा होते है। यदि वे इस सत्य में कि 'आत्मा और प्रकृति एक दूसरे से पृथक् वस्तु है,' चित्त का सयम कर सके, तो उन्हे पुरुप का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। उससे विवेकज्ञान उदित होता है। जब वे इस विवेक को प्राप्त कर लेते हैं, तब उन्हे प्रातिभ नामक अत्यन्त उच्च कोटि का दैवज्ञान प्राप्त होता है। पर ये सब सिद्धियाँ उस उच्चतम लक्ष्य अर्थात् उस पवित्रस्वरूप आत्मा के ज्ञान और मुक्ति की प्रतिबन्धकस्वरूप है। ये सब तो मानो रास्ते मे प्राप्त होनेवाली चीजे भर है। यदि योगी इन सिद्धियो का परित्याग कर दे, तभी वे उस उच्चतम ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं। यदि वे इनमे अटक जायँ, तो फिर उनकी उन्नति रुक जाती है।

बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥३९॥

सूत्रार्थ—जब बन्धन का कारण शिथिल हो जाता है और योगी चित्त के प्रचारस्थानो को (अर्थात् शरीरस्थ नाडीसमूह को) जान लेते है, तब वे दूसरे के शरीर में प्रवेश कर सकते है।

व्याख्या—योगी एक देह मे रहकर और उस देह में क्रियाशील रहते हुए भी अन्य किसी मृत देह में प्रवेश करके उसे गतिशील कर सकते हैं। इसी प्रकार, वे किसी जीवित शरीर मे प्रवेश करके उस व्यक्ति के मन और इन्द्रियो को निरुद्ध कर सकते है, तथा उस समय तक के लिए उस शरीर के भीतर से काम कर सकते हैं। प्रकृति और पुरुप के विवेक को प्राप्त करने पर ही ऐसा करना उनके लिए सम्भव होता है। यदि वे दूसरे के शरीर मे प्रवेश करने की इच्छा करे, तो उस शरीर में संयम

का प्रयोग करने से ही वह सिद्ध हो जायगा, क्योकि उनके मतानुसार, उनकी आत्मा ही सर्वव्यापी नही है, वरन् उनका मन भी सर्वव्यापी है। उनका मन उस सर्वव्यापी (समष्टि) मन का एक अश मात्र है। पर अभी वह इस शरीर के स्नायुओ के भीतर से ही काम कर सकता है, किन्तु जब योगी इन स्नायविक प्रवाहो से अपने को मुक्त कर लेते है, तब वे दूसरे शरीर के द्वारा भी काम कर सकते है।

उदानजयाज्जलपंककण्टकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च ॥४०॥

सूत्रार्थ—उदान नामक स्नायुप्रवाह पर जय प्राप्त कर लेने से योगी के शरीर से पानी या कीचड का सयोग नही होता, वे कॉंटों पर चल सकते हैं और इच्छामृत्यु होते हैं।

व्याख्या—उदान नामक जो स्नायविक शक्ति-प्रवाह फेफडे और शरीर के सारे ऊपरी भाग को चलाता है, उस पर जब योगी जय प्राप्त कर लेते हैं, तब वे अत्यन्त हल्के हो जाते है। वे फिर जल में नही डूबते, कॉंटो पर या तलवार की धार पर वे अनायास चल सकते है, आग मे खड़े रह सकते है और इच्छा मात्र से ही इस शरीर को छोड दे सकते है।

समानजयात्प्रज्वलनम् ॥४१॥

सूत्रार्थ—समान वायु को जीत लेने से (उनका शरीर) दीप्तिमान् हो जाता है।

व्याख्या—वे जब कभी इच्छा करते है, तभी उनके शरीर से ज्योति बाहर निकल आती है।

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥४२॥

सूत्रार्थ—कान और आकाश का जो परस्पर सम्बन्ध है, उसमें सयम करने से दिव्य कर्ण प्राप्त होता है।

व्याख्या—यह है आकाशतत्त्व, और यह उसका अनुभव करने के लिए यन्त्रस्वरूप कान है। इनमें सयम करने से योगी दिव्य कर्ण प्राप्त करते है। तव वे सव कुछ सुन सकते हैं। अत्यन्त दूर कोई वातचीत या शब्द होने पर भी वे उसे सुन सकते है।

कायाकाशयो॰ सम्वन्धसयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाश-
गमनम् ॥४३॥

सूत्रार्थ—शरीर और आकाश के सम्वन्ध में चित्तसयम करने से और (रुई आदि) हल्की वस्तु में सयम करने से योगी आकाश में गमन कर सकते हैं।

व्याख्या—आकाश ही इस शरीर का उपादान है; आकाश ने ही एक प्रकार से विकृत होकर इस शरीर का रूप धारण किया है। यदि योगी शरीर के उपादानभूत उस आकाश-धातु में सयम का प्रयोग करे, तो वे आकाश के समान हल्के हो जाते हैं और जहाँ इच्छा हो, वायु मे से होकर जा सकते हैं। ऐसा ही दूसरे के सम्वन्ध में भी है।

वहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥४४॥

सूत्रार्थ—वाहर में मन की जो यथार्थ वृत्ति अर्थात् मन की धारणा है, उसका नाम हं महाविदेहा, उसमें सयम का प्रयोग करने से, प्रकाश का जो आवरण है, वह नष्ट हो जाता है।

व्याख्या—अज्ञानवश मन सोचता है कि वह इस देह में से कार्य कर रहा है। यदि मन सर्वव्यापी हो, तो हम केवल एक ही प्रकार के स्नायुओ द्वारा क्यो आवद्ध रहेंगे, इस अहं को एक ही शरीर मे सीमावद्ध करके क्यो रखेंगे? ऐसा करने का तो कोई कारण नही दिखता। योगी अपने इस अहं-भाव को, जहाँ कही इच्छा हो वही अनुभव करना चाहते है। अहं-भाव के चले

जाने पर इस देह में जो मानसिक वृत्तिप्रवाह जागरित होता है, उसे 'अकल्पिता वृत्ति' या 'महाविदेहा' कहते है। जब वे उसमे सयम करने में सफल होते है, तब प्रकाश के सारे आवरण नष्ट हो जाते हैं और समस्त अन्धकार एव अज्ञान नष्ट हो जाने के कारण सब कुछ उन्हे चैतन्यमय प्रतीत होता है।

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः ॥४५॥

सूत्रार्थ—भूतों की स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व—इन पाँच प्रकार की अवस्थाओ में संयम करने से पाँचो भूतों पर विजय प्राप्त हो जाती है।*

व्याख्या—योगी समस्त भूतो मे संयम करते हैं, पहले, स्थूल भूत में और फिर उसके बाद उसकी अन्यान्य सूक्ष्म अवस्थाओ मे संयम करते हैं। बौद्धो के एक सम्प्रदाय में यह संयम विशेष रूप से प्रचलित है। वे मिट्टी का एक लोदा लेकर उसमे सयम का प्रयोग करते है, फिर क्रमश, वह जिन सब सूक्ष्म भूतो से निर्मित हुआ है, उन्हे देखना शुरू करते हैं। जब वे उसकी समस्त सूक्ष्म अवस्थाओ के बारे मे जान लेते है, तब वे उस भूत पर विजय प्राप्त कर लेते है। ऐसा ही अन्य सब भूतो के बारे में भी समझना चाहिए। योगी सभी पर जय प्राप्त कर सकते हैं।

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥४६॥

सूत्रार्थ—उससे अणिमा आदि सिद्धियों का आविर्भाव होता है, कायसम्पत् की प्राप्ति होती है और सारे शारीरिक धर्मों से बाधा नहीं होती।

---

*स्वरूप—पृथ्वी की ठोसता, जल की तरलता आदि। अन्वय—सत्त्व, रज और तम प्रत्येक भूत में व्याप्त है, यह जानना। अर्थवत्त्व—विशेष-विशेष भोग-प्रदान की सामर्थ्य।

व्याख्या—इसका तात्पर्य यह है कि योगी अष्टसिद्धियों की प्राप्ति कर लेते हैं। वे अपने को इच्छानुसार परमाणु के समान छोटा या पर्वत के समान बड़ा कर सकते है, वे अपने को पृथ्वी के समान भारी और वायु के समान हल्का कर सकते है, वे जहाँ चाहे जा सकते है, जिस पर चाहे प्रभुत्व कर सकते है, जिस पर चाहे विजय प्राप्त कर सकते है। सिंह उनके पैरो के पास मेमने के समान शान्तभाव से बैठा रहेगा, और वे जो भी चाहे, उनकी समस्त कामनाएँ पूर्ण होगी।

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ॥४७॥

सूत्रार्थ—रूप, लावण्य, बल और वज्र के समान दृढता—ये कायसम्पत् हैं।

व्याख्या—तब शरीर अविनाशी हो जाता है, कोई भी वस्तु उसे किसी प्रकार का नुकसान नही पहुँचा सकती। यदि योगी स्वय इच्छा न करे, तो दुनिया की कोई भी ताकत उनके शरीर का नाश नही कर सकती। "कालदण्ड को भग्न कर वे इस जगत् में शरीर लेकर वास करते हैं।" वेदो मे कहा है कि ऐसे व्यक्ति को बीमारी, मृत्यु या अन्य कोई क्लेश नही होता।

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥४८॥

सूत्रार्थ—इन्द्रियो की बाह्य पदार्थ की ओर गति, उससे उत्पन्न ज्ञान, इस ज्ञान से विकसित अह-प्रत्यय, इन्द्रियो के त्रिगुणमयत्व और उनके भोगदातृत्व—इन पाँचो में सयम करने से इन्द्रियो पर विजय प्राप्त हो जाती है।

व्याख्या—बाह्य वस्तु की अनुभूति के समय इन्द्रियाँ मन से बाहर जाकर विषय की ओर दौडती है, उसी से उपलब्धि

और अस्मिता की उत्पत्ति होती है। जब योगी उनमे तथा अन्य दोनों में भी क्रमश: संयम का प्रयोग करते हैं, तब वे इन्द्रियो पर जय प्राप्त कर लेते है। जो कोई वस्तु तुम देखते या अनुभव करते हो—जैसे एक पुस्तक—उसे लेकर उसमे सयम का प्रयोग करो। उसके बाद पुस्तक के रूप मे जो ज्ञान है, उसमें, फिर जिस अहंभाव के द्वारा उस पुस्तक का दर्शन होता है, उसमे संयम करो। इस अभ्यास से समस्त इन्द्रियाँ विजित हो जाती है।

ततो मनोजवित्वं विकरणभाव प्रधानजयश्च ॥४९॥

सूत्रार्थ—उस (इन्द्रियजय) से शरीर को मन के सदृश गति, शरीर के विना भी विषयो का अनुभव करने की शक्ति और प्रकृति पर विजय—ये तीनो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

व्याख्या— जैसे भूत-जय से कायसम्पत् की प्राप्ति होती है, वैसे ही इन्द्रिय-जय से उपर्युक्त सिद्धियाँ प्राप्त होती है।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥५०॥

सूत्रार्थ—पुरुष और बुद्धि के परस्पर पार्थक्य-ज्ञान में सयम करने से सब वस्तुओं पर अधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—जब हम प्रकृति पर जय प्राप्त कर लेते है तथा पुरुष और प्रकृति का भेद अनुभव कर लेते है अर्थात् जान लेते हैं कि पुरुष अविनाशी, पवित्र और पूर्णस्वरूप है, तब सर्व-शक्तिमत्ता और सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है।

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥५१॥

सूत्रार्थ—इन सब (सिद्धियों) को भी त्याग देने से दोष का बीज नष्ट हो जाता है, और उससे कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है।

व्याख्या—तब वे कैवल्य की प्राप्ति कर लेते हैं, वे मुक्त

हो जाते है। जब वे सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता इन दोनो को भी त्याग देते हैं, तब वे सारे प्रलोभन, यहाँ तक कि, देवताओं द्वारा दिए गए प्रलोभनो का भी अतिक्रमण कर सकते है। जब योगी इन सब अद्भुत शक्तियो को प्राप्त करके भी उन्हे त्याग देते है, तब वे चरम लक्ष्य पर पहुँच जाते है। वास्तव मे ये शक्तियाँ हैं क्या?—केवल अभिव्यक्तियाँ। स्वप्न की अपेक्षा उनमे भला कौनसी श्रेष्ठता है? सर्वशक्तिमत्ता भी तो एक स्वप्न है। वह केवल मन पर निर्भर रहती है। जब तक मन का अस्तित्व है, तभी तक सर्वशक्तिमत्ता सम्भव हो सकती है, पर हमारा लक्ष्य तो मन के भी अतीत है।

स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात् ॥५२॥

सूत्रार्थ—देवताओ द्वारा प्रलोभित किए जाने पर भी उसमें आसक्त होना या आनन्द का अनुभव करना उचित नहीं है, क्योंकि उससे पुनः अनिष्ट होना सम्भव है।

व्याख्या—और भी बहुत से विघ्न है। देवता आदि योगी को प्रलोभित करने आते हैं। वे नही चाहते कि कोई पूर्ण रूप से मुक्त हो। हम लोग जैसे ईर्ष्यापरायण है, वे भी वैसे ही हैं, वरन् कभी-कभी तो वे इस बात मे हम लोगो से भी आगे बढ जाते हैं। वे डरते हैं कि कही वे अपने पद को न खो बैठें। जो योगी पूर्ण सिद्ध नही होते, वे शरीर त्यागने के बाद देवता बन जाते हैं। वे सीधे रास्ते को छोडकर मानो बगल के एक रास्ते से चले जाते हैं और इन सब शक्तियो को प्राप्त करते है। उनको फिर से जन्म लेना पडता है। पर जो इतने शक्तिसम्पन्न है कि इन प्रलोभनो का उन पर कोई प्रभाव नही पडता, वे सीधे उस लक्ष्य-स्थल पर पहुँच जाते है और मुक्त हो जाते हैं।

क्षणतत्क्रमयो संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥५३॥

सूत्रार्थ—क्षण और उसके क्रम में संयम करने से विवेकजनित ज्ञान उत्पन्न होता है।

व्याख्या— देवता, स्वर्ग और शक्तियो से बचने का फिर उपाय क्या है? उपाय है विवेक—सदसत् विचार। इस विवेक-ज्ञान को दृढ करने के उद्देश्य से ही इस सयम का उपदेश दिया गया है। 'क्षण' का अर्थ है काल का सूक्ष्मतम अश। एक क्षण के पहले जो क्षण बीत चुका है, और उसके बाद जो क्षण प्रकट होगा—इस लगातार सिलसिले को 'क्रम' कहते हैं। अतः उपर्युक्त विवेकजनित ज्ञान को दृढ करने के लिए क्षण और उसके क्रम में सयम करना होगा।

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्ति ॥५४॥

सूत्रार्थ—जाति, लक्षण और देशभेद से जिन वस्तुओ का भेद न किए जा सकने के कारण जो तुल्य प्रतीत होती हैं, उनको भी इस उपर्युक्त संयम द्वारा अलग करके जाना जा सकता है।

व्याख्या—हम जो दु ख भोगते है, वह अज्ञान से, सत्य और असत्य के अविवेक से उत्पन्न होता है। हम सभी बुरे को भला समझते हैं और स्वप्न को वास्तविक। एकमात्र आत्मा ही सत्य है, पर हम यह भूल गए है। शरीर एक मिथ्या स्वप्न मात्र है, पर हम सोचते है कि हम शरीर है। यह अविवेक ही दु.ख का कारण है। और यह अविवेक अविद्या से उत्पन्न होता है। विवेक के उदय के साथ ही बल भी आता है, और तभी हम इस शरीर, स्वर्ग तथा देवता आदि की कल्पनाओ को त्यागने मे समर्थ होते हैं। जाति, चिह्न और स्थान के द्वारा हम वस्तुओं को अलग करते हैं। उदाहरणार्थ, एक गाय की बात ले लो। गाय का कुत्ते से जो

भेद है, वह जातिगत है। और दो गायों में परस्पर भेद हम कैसे करते हैं? चिह्न के द्वारा। फिर दो वस्तुएँ सर्वथा समान होने पर हम स्थानगत भेद के द्वारा उन्हें अलग कर जानते हैं। किन्तु जब वस्तुएँ ऐसी मिली हुई रहती हैं कि अलग करने के ये सब विभिन्न उपाय बिल्कुल काम में नहीं आते, तब उपर्युक्त साधन-प्रणाली के अभ्यास से लब्ध विवेक के बल से हम उन्हें पृथक् कर सकते हैं। योगियों का उच्चतम दर्शन इस तत्त्व पर आधारित है कि पुरुष शुद्धस्वभाव एवं नित्य पूर्णस्वरूप है और संसार में वही एकमात्र अमिश्र वस्तु है। शरीर और मन तो मिश्र पदार्थ हैं, फिर भी हम सदैव अपने आपको उनके साथ मिला दे रहे हैं। सबसे बड़ी गलती यही है कि यह पार्थक्य-ज्ञान नष्ट हो गया है। जब यह विवेक-शक्ति प्राप्त होती है, तब मनुष्य देख पाता है कि जगत् की सारी वस्तुएँ, वे फिर बहिर्जगत् की हों, या अन्तर्जगत् की, मिश्र पदार्थ हैं, अतएव वे पुरुष नहीं हो सकतीं।

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥५५॥

सूत्रार्थ—जो विवेकज्ञान समस्त वस्तुओं को तथा वस्तुओं की सब प्रकार की अवस्थाओं को एक साथ ग्रहण कर सकता है, उसे तारकज्ञान कहते हैं।

व्याख्या—तारक का अर्थ है—जो संसार से तारण करता है। सारी प्रकृति की सूक्ष्म और स्थूल सर्वविध अवस्थाएँ इस ज्ञान की ग्राह्य हैं। इस ज्ञान में किसी प्रकार का क्रम नहीं है। यह सारी वस्तुओं को क्षणभर में एक साथ ग्रहण कर लेता है।

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥५६॥

सूत्रार्थ— जब सत्त्व (बुद्धि) और पुरुष—इन दोनों की समानभाव से शुद्धि हो जाती है, तब कैवल्य की प्राप्ति होती है।

व्याख्या—कैवल्य ही हमारा लक्ष्य है, इस लक्ष्य-स्थल पर पहुँचने पर आत्मा जान लेती है कि वह सर्वदा ही अकेली थी, उसे सुखी करने के लिए अन्य किसी की भी आवश्यकता न थी। जब तक अपने को सुखी करने के लिए हमें अन्य किसी की आवश्यकता होती है, तब तक हम गुलाम हैं। जब पुरुष जान लेता है कि वह मुक्तस्वभाव है और उसको पूर्ण करने के लिए अन्य किसी की भी जरूरत नहीं, जब वह यह जान लेता है कि यह प्रकृति क्षणिक है, इसकी कोई आवश्यकता नही है, तभी मुक्ति की प्राप्ति होती है, तभी यह कैवल्य प्राप्त होता है। जब आत्मा जान लेती है कि जगत् के छोटे-से-छोटे परमाणु से लेकर देवता तक किसी पर उसके निर्भर रहने की आवश्यकता नही है, तब आत्मा की उस अवस्था को कैवल्य और पूर्णता कहते है। जब शुद्धि और अशुद्धि दोनो से मिला हुआ सत्त्व अर्थात् बुद्धि, पुरुष के समान शुद्ध हो जाती है, तब यह कैवल्य प्राप्त हो जाता है, तब वह बुद्धि केवल निर्गुण, पवित्रस्वरूप पुरुष को प्रतिबिम्बित करती है।

चतुर्थ अध्याय

कैवल्यपाद

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजा सिद्धयः ॥१॥

सूत्रार्थ—सिद्धियाँ जन्म, औषधि, मन्त्र, तपस्या और समाधि से उत्पन्न होती हैं।

व्याख्या—कभी-कभी मनुष्य पूर्वजन्म में प्राप्त सिद्धि को लेकर जन्म ग्रहण करता है। इस बार वह मानो उनके फल का भोग करने के लिए ही जन्म लेता है। सांख्यदर्शन के पितृस्वरूप कपिल के बारे में कहा है कि वे जन्म से ही सिद्ध थे। 'सिद्ध' शब्द का अर्थ है—जो कृतकार्य हो चुके हैं।

योगीगण कहते हैं कि रसायनविद्या अर्थात् औषधि आदि के द्वारा ये सब शक्तियाँ प्राप्त हो सकती हैं। तुम सभी जानते हो कि रसायनविद्या का प्रारम्भ आलकेमि * से हुआ। मनुष्य पारस-पत्थर (philosopher's stone), संजीवनी अमृत (elixir of life) † आदि का अन्वेषण करते थे। भारतवर्ष में 'रसायन' नामक एक सम्प्रदाय था। उसका यह मत था कि सूक्ष्मतत्त्व-जिज्ञासा, ज्ञान, आध्यात्मिकता, धर्म—ये सब सत्य (अच्छे) अवश्य हैं, पर उन्हें प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है यह शरीर। यदि बीच-बीच में शरीर भग्न अर्थात् मृत्युग्रस्त होता

---

* आल्केमि—रांगा आदि कम कीमतवाली धातुओं से सोना-चांदी आदि बनाने की विद्या। पहले यूरोप में गुप्त रूप से इस विद्या का बहुत प्रचार था।

† 'संजीवनी अमृत' का अर्थ है एक प्रकार का काल्पनिक रस जिससे मनुष्य अमर हो सकता है।

रहे, तो उससे उस चरम लक्ष्य पर पहुँचने मे काफी अधिक समय लग जायगा। मान लो, कोई मनुष्य योगाभ्यास करने का या आध्यात्मिक भावसम्पन्न होने का इच्छुक है। अधिक दूर उन्नति करने के पहले ही, मान लो, उसकी मृत्यु हो गई। तब उसने और एक देह लेकर फिर से साधना करना शुरू किया। कुछ समय बाद फिर उसकी मृत्यु हो गई। इस प्रकार बारम्बार मरने और जन्म लेने से तो उसका काफी समय नष्ट हो गया। अब यदि शरीर को इतना सबल और निर्दोष बनाया जा सके कि उसके जन्म और मृत्यु बिलकुल बन्द हो जायँ, तो आध्यात्मिक उन्नति के लिए उतना ही अधिक समय मिल सकेगा। इसीलिए ये 'रसायन'-सम्प्रदायवाले कहते हैं कि पहले शरीर को सबल बनाओ। उनका दावा है कि शरीर को अमर बनाया जा सकता है। उनका अभिप्राय यह है कि यदि मन ही शरीर का गठन करनेवाला हो, और यह यदि सत्य हो कि प्रत्येक व्यक्ति का मन उस अनन्त शक्ति के प्रकाश की एक-एक विशेष प्रणाली मात्र हो, तो ऐसी प्रत्येक प्रणाली के लिए बाहर से इच्छानुसार शक्ति सग्रह करने की कोई निर्दिष्ट सीमा नही हो सकती। अत. हम सदा के लिए इस शरीर को क्यो न रख सकेगे? हम जितने शरीर धारण करते है, उन सबका गठन हमें ही करना पडता है। ज्योही इस शरीर का पतन होगा, त्योही फिर से हमे एक और शरीर गढना पड़ेगा। जब हममे यह शक्ति है, तो इस शरीर से बाहर न जाकर, हम यही और अभी वह गठन-कार्य क्यो न कर सकेगे? यह मत पूर्ण रूप से सत्य है। यदि यह सम्भव हो कि हम मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रहकर अपना शरीर पुन. गढ़ ले, तो फिर शरीर को पूरा ध्वंस किए

बिना, उसे केवल क्रमश परिवर्तित करते हुए, इसी जन्म में शरीर तैयार करना हमारे लिए क्यो असम्भव होगा ? उनका यह भी विश्वास था कि पारा और गन्धक मे बडी अद्‌भुत शक्ति निहित है। इन द्रव्यो से एक विशेप तौर से बनी हुई चीजो द्वारा मनुप्य जितने दिन इच्छा हो शरीर को अक्षुण्ण बनाए रख सकता है। दूसरे कुछ लोगो का विश्वास था कि कुछ विशिष्ट औपधियो के सेवन से आकाश-गमन आदि सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती है। आजकल की आश्चर्यजनक औषधियो का अधिकाश, विशेषत औपधि मे धातु का व्यवहार, हमने 'रसायन'-सम्प्रदायवालो के पास से पाया है। कोई-कोई योगी-सम्प्रदाय कहते है कि हमारे बहुतेरे प्रधान गुरुगण अभी भी अपनी पुरानी देहो में विद्यमान हैं। योग के बारे मे जिनका प्रामाण्य अकाट्य है, वे पतजलि इसे अस्वीकार नही करते ।

मन्त्रशक्ति—'मन्त्र' का अर्थ है कुछ पवित्र शब्द, जिनका निर्दिष्ट नियम से उच्चारण करने पर उनसे ये अद्‌भुत शक्तियाँ प्राप्त होती है। हम दिन-रात ऐसी अद्‌भुत घटनाओ के बीच रह रहे है कि हमे उनका कोई महत्त्व नही मालूम पडता, हम उन्हे साधारण समझते हैं। मनुष्य की शक्ति की, शब्द की शक्ति की और मन की शक्ति की कोई निर्दिष्ट सीमा नही है।

तपस्या— तुम देखोगे कि यह तप प्रत्येक धर्म मे है। धर्म के इन सब अगो के साधन मे हिन्दू सबसे बढे चढे है। तुम ऐसे अनेक लोग पाओगे, जो सारे जीवनभर अपना हाथ ऊपर उठाए रखते है, यहाँ तक कि अन्त में उनके हाथ सूखकर नष्ट हो जाते है। बहुत से लोग दिन-रात खडे ही रहते है, और अन्त में उनके पैर फूल जाते है। वे इतने कड़े हो जाते हैं

कि वे फिर मोडे नही जा सकते । सारे जीवनभर उन्हें खडा ही रहना पडता है । मैने एक समय ऊपर हाथ उठाए हुए एक व्यक्ति को देखा था। मैंने उससे पूछा, "जब तुम पहले-पहल इसका अभ्यास करते थे, तब तुम्हे कैसा लगता था ?" उसने कहा, "पहले-पहल भयानक पीडा मालूम होती थी, इतनी कि मुझे नदी मे जाकर पानी में डूबे रहना पडता था, उससे कुछ समय के लिए पीडा थोडी कम मालूम होती थी। एक महीने बाद फिर कोई विशेष कष्ट नही हुआ।" इस प्रकार के अभ्यास से विभूतियाँ प्राप्त होती हैं।

समाधि—यही यथार्थ योग है, इस शास्त्र का यही मुख्य विषय है—और यही सिद्धि का प्रधान साधन है। पहले जिन सबके बारे में कहा गया है, वे गौण साधन मात्र है। उनके द्वारा वह परमपद प्राप्त नही होता। समाधि के द्वारा हम मानसिक, नैतिक या आध्यात्मिक, जो कुछ चाहे सब प्राप्त कर सकते हैं।

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥२॥

सूत्रार्थ—(यह) एक जाति से दूसरी जाति में बदल जाना रूप जात्यन्तरपरिणाम प्रकृति के पूर्ण होने से होता है।

व्याख्या—पतजलि ने कहा है कि ये शक्तियाँ जन्म से प्राप्त होती हैं, कभी-कभी वे औषधिविशेष से भी प्राप्त होती है, फिर तपस्या से भी उन्हे पाया जा सकता है। उन्होने यह भी स्वीकार किया है कि इस शरीर को जब तक इच्छा हो, रखा जा सकता है। अभी वे यह बता रहे है कि यह शरीर एक जाति से दूसरी जाति मे परिणत क्यो होता है। वे कहते हैं कि यह प्रकृति के पूर्ण होने से होता है। अगले सूत्र मे वे इसकी व्याख्या करेगे।

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥३॥

सूत्रार्थ—सत् और असत् कर्म प्रकृति के परिणाम (परिवर्तन) के प्रत्यक्ष कारण नहीं हैं, वरन् वे उसकी बाधाओं को दूर कर देनेवाले निमित्त मात्र हैं—जैसे, किसान जब पानी के बहने में रुकावट डालनेवाली मेंड को तोड़ देता है, तो पानी अपने स्वभाव से ही बह जाता है।

व्याख्या—जब कोई किसान खेत में पानी सींचने की इच्छा करता है, तब उसे अन्य किसी जगह से पानी लाने की आवश्यकता नही होती; खेत के समीपवर्ती जलाशय मे पानी सञ्चित है, बीच में बाँध रहने के कारण पानी खेत मे नही आ पा रहा है। किसान उस बाँध को खोल भर देता है, और बस पानी गुरुत्वाकर्षण के नियमानुसार, अपने आप खेत में बह आता है। इसी प्रकार, सभी व्यक्तियो मे सब प्रकार की उन्नति और शक्ति पहले से ही निहित है। पूर्णता ही मनुष्य का स्वभाव है, केवल उसके किवाड बन्द हैं, वह अपना यथार्थ रास्ता नही पा रही है। यदि कोई इस बाधा को दूर कर सके, तो उसकी वह स्वाभाविक पूर्णता अपनी शक्ति के बल से अभिव्यक्त होगी ही। और तब मनुष्य अपने भीतर पहले से ही विद्यमान शक्तियो को प्राप्त कर लेता है। जब यह बाधा दूर हो जाती है और प्रकृति को अपनी अप्रतिहत गति प्राप्त हो जाती है, तब हम जिन्हे पापी कहते है, वे भी साधु के रूप में परिणत हो जाते हैं। स्वभाव ही हमे पूर्णता की ओर ले जा रहा है, कालान्तर में वह सभी को वहाँ ले जायगा। धार्मिक होने के लिए जो कुछ साधनाएँ और प्रयत्न हैं, वे सब केवल निषेधात्मक कार्य है—वे केवल बाधा को दूर कर देते हैं और इस प्रकार उस पूर्णता के किवाड खोल देते हैं, जो हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, जो हमारा स्वभाव है।

प्राचीन योगियो का परिणामवाद (विकासवाद) आज आधुनिक विज्ञान के प्रकाश में अपेक्षाकृत अच्छी तरह समझ में आ सकेगा। फिर भी योगियो की व्याख्या आधुनिक व्याख्या से कही श्रेष्ठ है। आधुनिक मत कहता है, विकास (परिणाम) के दो कारण हैं—'यौन-निर्वाचन' (sexual selection) और 'योग्यतम की अवस्थिति' (survival of the fittest) *। पर ये दो कारण पर्याप्त नही मालूम होते। मान लो, मानवी ज्ञान इतना उन्नत हो गया कि शरीर-धारण तथा पति या पत्नी की प्राप्ति सम्बन्धी प्रतियोगिता उठ गई। तब तो आधुनिक विज्ञानवेत्ताओ के मतानुसार, मानवी उन्नति-प्रवाह रुद्ध हो जायगा और जाति की मृत्यु हो जायगी। फिर, इस मत के फलस्वरूप तो प्रत्येक अत्याचारी व्यक्ति अपने विवेक से छुटकारा पाने की एक युक्ति पा लेता है। ऐसे मनुष्यो की कमी नही, जो दार्शनिक नामधारी बनकर, जितने भी दुष्ट और अनुपयुक्त मनुष्य है (मानो ये ही उपयुक्तता-अनुपयुक्तता के एकमात्र विचारक हैं), उन सबको मार डालकर मनुष्य-जाति की रक्षा करना चाहते हैं! किन्तु प्राचीन परिणामवादी महापुरुष पतञ्जलि कहते हैं कि परिणाम या विकास का वास्तविक रहस्य है—प्रत्येक व्यक्ति मे जो पूर्णता पहले से ही निहित है, उसी की अभिव्यक्ति या विकास मात्र। वे कहते है कि इस

---

* डारविन का मत है कि जगत् का क्रमविकास कुछ निर्दिष्ट नियमो के अनुसार होता है, उनमें 'यौन-निर्वाचन' और 'योग्यतम की अवस्थिति' ही प्रधान है। प्रत्येक जीव अपना उपयुक्त पति या पत्नी निर्वाचित कर लेता है, और जो सबसे योग्य है, वही अन्त तक बचा रहता है, यही इन दोनो बातो का अर्थ है।

पूर्णता की अभिव्यक्ति में बाधा हो रही है । हमारे अन्दर यह पूर्णतास्वरूप अनन्त शक्तिराशि अपने को प्रकाशित करने के लिए प्रयत्न कर रही है । ये संघर्ष और होड़ केवल हमारे अज्ञान के फल हैं । ये इसलिए होते हैं कि हम यह नहीं जानते कि यह दरवाजा कैसे खोला जाय और पानी भीतर कैसे लाया जाय । हमारे पीछे जो अनन्त शक्तिराशि है, वह अपने को प्रकाशित करेगी ही । वही समस्त अभिव्यक्ति का कारण है । केवल जीवन-धारण या इन्द्रियों को चरितार्थ करने की चेष्टा इस अभिव्यक्ति का कारण नही है । ये सब संघर्ष तो वास्तव में क्षणिक है, अनावश्यक हैं, बाह्य व्यापार मात्र हैं । ये सब अज्ञान से पैदा हुए है । सारी होड बन्द हो जाने पर भी, जब तक हममे से प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण नही हो जाता, तब तक हमारे भीतर निहित यह पूर्णस्वभाव हमें क्रमशः उन्नति की ओर अग्रसर कराता रहेगा । अत यह विश्वास करने का कोई कारण नही कि होड या प्रतियोगिता उन्नति के लिए आवश्यक है । पशु के भीतर मनुष्य गूढभाव से निहित है, ज्योही किवाड खोल दिया जाता है, अर्थात् ज्योही बाधा हट जाती है, त्योंही वह मनुष्य प्रकाशित हो जाता है । इसी प्रकार, मनुष्य के भीतर भी देवता गूढभाव से विद्यमान है, केवल अज्ञान का आवरण उसे प्रकाशित नही होने देता । जब ज्ञान इस आवरण को चीर डालता है, तब भीतर का वह देवता प्रकाशित हो जाता है ।

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥४॥

सूत्रार्थ—बनाए हुए चित्त केवल अस्मिता (अहं-तत्त्व) से होते है ।

व्याख्या—कर्मवाद का तात्पर्य यह है कि हमें अपने भले-बुरे कर्मों का फल भोगना ही पडता है, और सारे दर्शनशास्त्रो का एकमात्र उद्देश्य यह है कि मनुष्य अपनी महिमा को जान ले। सभी शास्त्र मनुष्य की—आत्मा की—महिमा की घोषणा कर रहे हैं, फिर उसके साथ-साथ कर्मवाद का भी प्रचार कर रहे है। शुभकर्मो का शुभ फल और अशुभ कर्मो का अशुभ फल होता है। यदि शुभ और अशुभ कर्म आत्मा पर प्रभाव डाल सकते हो, तो फिर आत्मा तो कुछ भी नही रही। वास्तव मे अशुभ कर्म तो पुरुष के अपने स्वरूप के प्रकाश मे बाधा भर डालते है, और शुभ कर्म उन बाधाओ को दूर कर देते है, तभी पुरुष की महिमा प्रकाशित होती है। स्वय पुरुष मे कभी परिवर्तन नही होता। तुम चाहे जो करो, तुम्हारी महिमा को—तुम्हारे अपने स्वरूप को कुछ भी नष्ट नही कर सकता, क्योकि कोई भी वस्तु आत्मा पर प्रभाव नही डाल सकती। उससे आत्मा पर मानो एक आवरण भर पड जाता है, जिससे आत्मा की पूर्णता ढक जाती है।

योगीगण जल्दी-जल्दी कर्म का क्षय कर डालने के लिए काय-व्यूह (शरीरसमूह) का सृजन करते हैं। फिर इन सब शरीरो के लिए वे अपनी अस्मिता या अहतत्त्व से बहुतसे चित्तो की सृष्टि करते है। इन निर्मित चित्तो को, मूल चित्त से उनका भेद स्पष्ट करने के लिए, 'निर्माणचित्त' कहते हैं।

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥५॥

सूत्रार्थ—यद्यपि इन विभिन्न बनाए हुए चित्तो के कार्य नाना प्रकार के है, तो भी वह एक आदि (मूल) चित्त ही उन सबो का नियन्ता है।

व्याख्या—ये अलग-अलग मन (चित्त), जो अलग-

अलग देहो में कार्य करते है, 'निर्माणचित्त' कहलाते हैं और इन निर्मित शरीरो को 'निर्माणदेह' कहते है। भूत और मन मानो दो अनन्त भाण्डार के समान है। योगी होने पर ही तुम उन पर अधिकार प्राप्त करने का रहस्य जान सकोगे। तुम्हे तो वह सदैव विदित था, पर तुम उसे भूल भर गए थे। तुम जब योगी हो जाओगे, तो वह फिर से तुम्हारी स्मृति मे आ जायगा। तब तुम उसे लेकर जो इच्छा हो वही कर सकोगे। जिस उपादान से इस वृहत् ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है, यह निर्माणचित्त भी उसी उपादान से निर्मित होता है। मन और भूत आपस में एक दूसरे से बिलकुल भिन्न पदार्थ नही है, वे तो एक ही पदार्थ की दो विभिन्न अवस्थाएँ मात्र है। अस्मिता ही वह उपादान, वह सूक्ष्म वस्तु है, जिससे योगी के ये निर्माणचित्त और निर्माणदेह तैयार होते है। अतएव, योगी जब प्रकृति की इन शक्तियो का रहस्य जान लेते है, तब वे अस्मिता नामक पदार्थ से जितनी इच्छा हो, उतने मन और शरीर निर्माण कर सकते हैं।

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥६॥

सूत्रार्थ—उन विभिन्न चित्तो में से जो चित्त समाधि द्वारा उत्पन्न होता है, वह वासनाशून्य होता है।

व्याख्या—विभिन्न व्यक्तियो मे हम जो विभिन्न प्रकार के मन देखते हैं, उनमे वही मन सबसे ऊँचा है, जिसे समाधि-अवस्था प्राप्त हुई है। जो व्यक्ति औषधि, मन्त्र या तपस्या के बल से कुछ शक्तियाँ प्राप्त कर लेता है, उसकी तब भी वासनाएँ बनी ही रहती है, पर जो व्यक्ति योग के द्वारा समाधि प्राप्त कर लेता है, केवल वही समस्त वासनाओ से मुक्त होता है।

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥७॥

सूत्रार्थ—योगियों के कर्म शुक्ल भी नहीं और कृष्ण भी नहीं, (पर) दूसरों के कर्म तीन प्रकार के होते हैं—शुक्ल, कृष्ण और मिश्र।

व्याख्या—जब योगी इस प्रकार की पूर्णता प्राप्त कर लेते हैं, तब उनके कार्य और उन कार्यों के फल उन्हें फिर बाँध नहीं सकते, क्योंकि उनमें वासना का संस्पर्श नहीं रह जाता। वे केवल कर्म किए जाते हैं। वे दूसरों के हित के लिए काम करते हैं, दूसरों का उपकार करते हैं, किन्तु वे उसके फल की चाह नहीं रखते। अतः वह उनके पास नहीं आता। पर साधारण मनुष्यों के लिए, जिन्हें यह सर्वोच्च अवस्था प्राप्त नहीं हुई है, कर्म त्रिविध होते हैं—कृष्ण (पापकर्म), शुक्ल (पुण्यकर्म) और मिश्र (पाप और पुण्य मिले हुए)।

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥८॥

सूत्रार्थ—इन त्रिविध कर्मों से प्रत्येक अवस्था में वे ही वासनाएँ प्रकाशित होती हैं, जो केवल उस अवस्था में प्रकाशित होने की योग्य है। (अन्य सब उस समय के लिए स्तिमित रूप से रहती हैं।)

व्याख्या—मान लो, मैंने पाप, पुण्य और मिश्रित, ये तीन प्रकार के कर्म किए। उसके बाद, मान लो, मेरी मृत्यु हो गई, और मैं स्वर्ग में देवता हो गया। मनुष्य-देह की वासना और देव-देह की वासना एक समान नहीं है। देव-शरीर खाना-पीना कुछ नहीं करता। यदि बात ऐसी हो, तो फिर आत्मा के जो पूर्व अभुक्त कर्म हैं, जो अपने फलस्वरूप खाने-पीने की वासना को जन्म देते हैं, वे सब भला कहाँ जाते हैं? जब मैं देवता हो जाता हूँ, तब ये कर्म कहाँ रहते हैं? इसका उत्तर यह है कि वासना उपयुक्त अवस्था और क्षेत्र को पाने पर ही प्रकाशित

होती है। जिन सब वासनाओ के प्रकाशित होने की उपयुक्त अवस्था आती है, उस समय केवल वे ही प्रकाशित होगी। शेष सब संचित रहेगी। इस जीवन मे हमारी बहुतसी देवोचित वासनाएँ है, बहुतसी मनुष्योचित और बहुतसी पाशविक। जब हम देव-देह धारण करते है, तो केवल शुभ वासनाएँ ही प्रकाशित होती हैं, क्योकि तब उनके प्रकाशित होने का उपयुक्त अवसर आता है। जब हम पशु-देह धारण करते है, तो केवल पाशविक वासनाएँ ही ऊपर आती है और शुभ वासनाएँ बाट देखती रहती हैं। इससे क्या पता चलता है? यही कि बाहर मे उपयुक्त अवस्था होने पर इन वासनाओ का दमन किया जा सकता है। जो कर्म उस अवस्था के उपयुक्त और अनुकूल है, केवल वे ही प्रकाशित होगे। इससे यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित होता है कि वातावरण की शक्ति कर्म का भी दमन कर सकती है।

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेक-
रूपत्वात् ॥९॥

सूत्रार्थ—स्मृति और संस्कार एकरूप होने के कारण, जाति, देश और काल का व्यवधान रहने पर भी, वासनाओं (कर्म-संस्कारो) का आनन्तर्य रहता है अर्थात् उनमें व्यवधान नहीं होता।

व्याख्या—समस्त अनुभूतियाँ सूक्ष्म आकार धारण कर संस्कार के रूप मे परिणत हो जाती हैं। जब वे संस्कार फिर से जागृत होते है, तब उसी को स्मृति कहते हैं। ज्ञानपूर्वक किए गए वर्तमान कर्म के साथ, संस्कार के रूप मे परिणत पूर्व-अनुभूतियो का जो परस्पर अज्ञानयुक्त सम्बन्ध है, यहाँ पर उसका भी 'स्मृति' शब्द से बोध होता है। प्रत्येक देह में वही संस्कार-समष्टि कर्म का कारण होती है, जो उसी जाति की

देह से प्राप्त हुई है। भिन्न जाति की देह से लब्ध सस्कार-समष्टि उस समय स्तिमित रूप से रहती है। प्रत्येक शरीर इस प्रकार कार्य करता है, मानो वह उसी जाति की देह-परम्परा का एक वंशज हो। इस तरह हम देखते है कि वासनाओ का क्रम नष्ट नही होता।

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥१०॥

सूत्रार्थ—सुख की तृष्णा नित्य होने के कारण वासनाएँ भी अनादि है।

व्याख्या—हम जो कुछ अनुभव या भोग करते हैं, वह सुखी होने की इच्छा से ही उत्पन्न होता है। इस भोग का कोई आदि नही है, क्योंकि प्रत्येक नया भोग पहले किए हुए भोग से उत्पन्न प्रवृत्ति या सस्कार पर स्थापित रहता है। अतएव वासना अनादि है।

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥११॥

सूत्रार्थ—हेतु, फल, आश्रय और (शब्दादि) विषय—इनसे वासनाओं का सग्रह होता है, इसलिए इन (चारों) का अभाव होने से उन (वासनाओ) का भी अभाव हो जाता है।

व्याख्या—वासनाएँ कार्य-कारणसूत्र से ग्रथित है, मन मे कोई वासना उदित होने पर वह अपना फल उत्पन्न किए बिना नष्ट नही होती। फिर, चित्त समस्त पूर्व वासनाओ (कर्म-सस्कारो) का आश्रय है—एक बडा भाण्डारस्वरूप है। ये वासनाएँ संस्कार के रूप मे सञ्चित रहती है। जब तक उनका कार्य समाप्त नही हो जाता, तब तक वे नष्ट नही होती। फिर, जब तक इन्द्रियाँ बाहरी विषयो को ग्रहण करती रहेंगी, तब तक नई-नई, वासनाएँ भी उठती रहेगी। यदि वासना के

हेतु, फल, आश्रय और विषय नष्ट कर दिए जा सके, तभी उसका समूल विनाश हो सकता है।

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥१२॥

सूत्रार्थ—वस्तु के धर्म विभिन्न रूप धारण कर सब कुछ हुए हैं, इसलिए अतीत और अनागत (भविष्य) स्वरूपतः विद्यमान हैं।

व्याख्या—तात्पर्य यह है कि असत् से कभी सत् की उत्पत्ति नही होती। अतीत और अनागत यद्यपि व्यक्त रूप से नही रहते, फिर भी वे सूक्ष्म अवस्था मे रहते है।

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥१३॥

सूत्रार्थ—वे (धर्म) कभी व्यक्त अवस्था में रहते हैं, फिर कभी सूक्ष्म अवस्था में चले जाते हैं, और गुण ही उनकी आत्मा अर्थात् स्वरूप है।

व्याख्या—गुण का तात्पर्य है सत्त्व, रज और तम—ये तीन पदार्थ। उनकी स्थूल अवस्था ही यह परिदृश्यमान जगत् है। भूत और भविष्य इन तीन गुणो के ही विभिन्न प्रकाश से उत्पन्न होते है।

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥१४॥

सूत्रार्थ—परिणाम में एकत्व रहने के कारण वस्तु वास्तव में एक है।

व्याख्या—यद्यपि वस्तुएँ तीन हैं अर्थात् सत्त्व, रज और तम, फिर भी उनके परिणामो में एक पारस्परिक सम्बन्ध रहने के कारण सभी वस्तुओ मे एकत्व है, ऐसा समझना चाहिए।

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥१५॥

सूत्रार्थ—वस्तु के एक होने पर भी, चित्त भिन्न-भिन्न होने के कारण, विभिन्न प्रकार की वासनाएँ और अनुभूतियाँ होती हैं।

व्याख्या—तात्पर्य यह कि मन से स्वतन्त्र, बाह्य जगत् का

अस्तित्व है। यहाँ पर बौद्धो के विज्ञानवाद का खंडन किया जा रहा है। चूंकि भिन्न-भिन्न लोग एक ही वस्तु को विभिन्न रूप से देखते है, इसलिए वह किसी व्यक्तिविशेष की कल्पना मात्र नहीं हो सकती।

(न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥१६॥

सूत्रार्थ—फिर, दृश्य वस्तु किसी एक चित्त के अधीन नहीं है, (क्योंकि) वैसा होने से जब वह (उस चित्त के) प्रत्यक्षादि प्रमाण का अविषय हो जायगी, उस समय उस वस्तु का क्या होगा ?)

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥१७॥

सूत्रार्थ—चित्त में वस्तु के प्रतिबिम्ब पड़ने की अपेक्षा रहने के कारण वस्तु कभी ज्ञात और कभी अज्ञात होती है।

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥१८॥

सूत्रार्थ—चित्तवृत्तियाँ सदा ज्ञात रहती हं, क्योकि उस (चित्त) का स्वामी पुरुष अपरिणामी है।

व्याख्या—अब तक जिस मत की वात कही गई है, उसका साराश यह है कि जगत् मनोमय और भौतिक, इन दो प्रकार का है। ये मनोमय और भौतिक जगत् सतत परिवर्तनशील हैं। यह पुस्तक क्या है ? यह नित्य परिवर्तनशील कुछ परमाणुओं की समष्टि मात्र है। कुछ परमाणु वाहर जा रहे हैं और कुछ भीतर आ रहे है, यह बस एक भँवर के समान है। पर प्रश्न यह है कि ऐसा होने पर फिर एकत्व-बोध कैसे हो रहा है ? यह पुस्तक सर्वदा एक ही रूप मे कैसे दिखती है ? कारण यह है कि ये सब परिणाम तालबद्ध (नियमित) रूप से हो रहे हैं, वे मेरे मन में तालबद्ध रूप से अनुभव-प्रवाह भेज रहे हैं। और यद्यपि उनके विभिन्न अश सतत परिवर्तनशील

है, तो भी वे ही एकत्र होकर एक अविच्छिन्न चित्र का ज्ञान उत्पन्न कर रहे है। मन स्वय सतत परिवर्तनशील है। मन और शरीर मानो विभिन्न मात्रा मे गतिशील एक ही पदार्थ के दो स्तर मात्र है। तुलना मे एक धीमी और दूसरी द्रुततर होने के कारण हम उन दोनो गतियो को सहज ही पृथक् कर सकते हैं। जैसे एक रेलगाडी चल रही है, और एक गाडी उसके पास से जा रही है। कुछ परिमाण मे इन दोनो की ही गतियाँ निर्णीत हो सकती है। किन्तु तो भी दूसरे एक पदार्थ की आवश्यकता है। एक निश्चल वस्तु रहने पर ही गति का अनुभव किया जा सकता है। पर जहाँ दो-तीन वस्तुएँ विभिन्न मात्रा मे गतिशील हैं, वहाँ हमे पहले सबसे जोर से चलनेवाली वस्तु का अनुभव होता है, और फिर उससे धीरे चलनेवाली वस्तुओ का। अब प्रश्न यह है कि मन कैसे अनुभव करे? वह तो हमेशा गतिशील है। अत, दूसरी एक वस्तु का रहना आवश्यक है, जो अपेक्षाकृत धीमे रूप से गतिशील हो, उसके बाद उसकी अपेक्षा धीमी गतिशील वस्तु चाहिए, फिर उसकी भी अपेक्षा धीमी—इस प्रकार चलते-चलते तो इसका कही अन्त न होगा। अतएव, युक्ति हमें किसी एक स्थान में रुक जाने के लिए बाध्य करती है। किसी अपरिवर्तनशील वस्तु को जानकर हमें इस अनन्त श्रृखला की समाप्ति करनी ही पडेगी। इस कभी समाप्त न होनेवाली गति-श्रृखला के पीछे अपरिणामी, असग, शुद्धस्वरूप पुरुष वर्तमान है। जिस प्रकार मैजिक लैन्टर्न से आलोक की किरणें आकर सफेद कपड़े पर प्रतिबिम्बित हो, उस पर सैकड़ो चित्र उत्पन्न करती है, पर किसी तरह उसे कलकित नही कर पाती, ठीक उसी प्रकार विषयानुभूति से उत्पन्न सस्कार पुरुष मे प्रतिबिम्बित मात्र होते हैं।

न तत् स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥१९॥

सूत्रार्थ—चित्त दृश्य होने के कारण स्वप्रकाश नहीं है।

व्याख्या—प्रकृति मे सर्वत्र महाशक्ति की अभिव्यक्ति देखी जाती है, किन्तु वह स्वप्रकाश नही है, स्वभाव से चैतन्य-स्वरूप नही है। केवल पुरुष ही स्वप्रकाश है, उसके प्रकाश से ही प्रत्येक वस्तु उद्भासित हो रही है। उसी की शक्ति समस्त जड़ पदार्थ और शक्ति के भीतर से प्रकाशित हो रही है।

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥२०॥

सूत्रार्थ—एक समय में दो वस्तुओ को समझ न सकने के कारण चित्त स्वप्रकाश नहीं है।

व्याख्या—यदि चित्त स्वप्रकाश होता, तो वह एक साथ ही सब कुछ अनुभव कर सकता। पर वह तो ऐसा नही कर सकता। यदि एक वस्तु में गम्भीर मनोनिवेश करो, तो साथ ही दूसरी वस्तु मे मनोनिवेश न कर सकोगे। यदि मन स्वप्रकाश होता, तो वह कितनी अनुभूतियाँ एक साथ कर सकता, इसकी कोई सीमा नही। पुरुष क्षणभर में समस्त अनुभव कर सकता है, इसलिए पुरुष स्वप्रकाश है। *

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसंगः स्मृतिसंकरश्च ॥२१॥

सूत्रार्थ—एक चित्त को दूसरे चित्त का दृश्य मान लेने पर वह दूसरा चित्त फिर तीसरे चित्त का दृश्य होगा—इस प्रकार अनवस्था प्राप्त होगी और स्मृति का भी मिश्रण हो जायगा।

व्याख्या—मान लो, एक दूसरा चित्त है, जो इस पहले

---

* इस सूत्र का टीकासम्मत अर्थ यह है कि चित्त एक ही समय में अपना और अपने विषयो का अनुभव न कर सकने के कारण स्वप्रकाश नही है, पुरुष ही स्वप्रकाश है।

चित्त का अनुभव करता है। तब तो एक ऐसे तीसरे चित्त की आवश्यकता होगी, जो उस दूसरे चित्त का अनुभव करे। अतएव, इस प्रकार इसका कही अन्त न होगा। इससे स्मृति की भी गड़बडी उपस्थित हो जायेगी, क्योकि तब स्मृति का कोई निर्दिष्ट भडार नही रह जायगा।

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥२२॥

सूत्रार्थ—चित् (पुरुष) अपरिणामी है, चित्त जब उसका आकार धारण करता है, तब वह ज्ञानमय हो जाता है।

व्याख्या—ज्ञान पुरुष का गुण नही है, यह हमे स्पष्ट रूप से समझा देने के लिए पतजलि ने यह बात कही है। चित्त जब पुरुष के पास आता है, तब पुरुष मानो उसमे प्रतिबिम्बित होता है और उस समय के लिए चित्त ज्ञानवान् हो जाता है। तब ऐसा प्रतीत होता है मानो वही पुरुष है।

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥२३॥

सूत्रार्थ—चित्त जब द्रष्टा और दृश्य इन दोनो से रंग जाता है, तब वह सब प्रकार के अर्थ को प्रकाशित करता है।

व्याख्या—एक ओर दृश्य अर्थात् बाह्य जगत् चित्त मे प्रतिबिम्बित हो रहा है, और दूसरी ओर द्रष्टा अर्थात् पुरुष उसमे प्रतिबिम्बित हो रहा है, इसी से उसमे सब प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करने की शक्ति आती है।

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥२४॥

सूत्रार्थ—वह (चित्त) असख्य वासनाओ से चित्रित होने पर भी दूसरे (अर्थात् पुरुष) के लिए है, क्योकि यह संहत्यकारी (सयुक्त होकर कार्य करनेवाला) है।

व्याख्या—यह चित्त नाना प्रकार के पदार्थों की समष्टि—

स्वरूप है; अतः वह अपने लिए काम नहीं कर सकता। इस संसार में जितने मिश्र पदार्थ है, सभी का प्रयोजन किसी दूसरी वस्तु से है—ऐसी किसी तीसरी वस्तु से, जिसके लिए वे पदार्थ इस तरह से मिश्रित हुए हैं। अतएव, यह चित्तरूपी मिश्रण केवल पुरुष के लिए है।

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ—विशेषदर्शी अर्थात् विवेकी पुरुष का चित्त में आत्मभाव नहीं रह जाता।

व्याख्या—विवेक-बल से योगी जान लेते हैं कि पुरुष चित्त नहीं है।

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भावं * चित्तम् ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ—उस समय चित्त विवेकप्रवण होकर कैवल्य के पूर्वलक्षण को प्राप्त करता है।

व्याख्या—इस प्रकार योगाभ्यास से विवेकशक्तिरूप दृष्टि की शुद्धता प्राप्त होती है। हमारी आँखो के सामने से आवरण हट जाता है, और तब हम वस्तु के यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि करते हैं। हम तब जान लेते हैं कि प्रकृति एक मिश्र पदार्थ है और उसके ये सारे दृश्य केवल साक्षीस्वरूप पुरुष के लिए है। तब हम जान लेते हैं कि प्रकृति ईश्वर नहीं है। इस प्रकृति की सारी संहति, सारे संयोग केवल हमारे हृदय-सिंहासन में विराजमान राजा पुरुष को यह सब दृश्य दिखाने के लिए हैं। जब दीर्घकाल तक अभ्यास के फलस्वरूप विवेक का उदय होता है, तब भय चला जाता है और कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है।

---

* पाठान्तर—कैवल्यप्राग्भारं।

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

सूत्रार्थ—उसके विघ्नस्वरूप बीच-बीच में जो अन्यान्य ज्ञान उत्पन्न होते हैं, वे सस्कारो से आते हैं।

व्याख्या—'हमे सुखी करने के लिए कोई वाहरी वस्तु आवश्यक हैं', ऐसा विश्वास पैदा करनेवाले जो सब भाव हममे उठते हैं, वे सिद्धिलाभ मे बाधक हैं। पुरुष स्वभाव से सुखस्वरूप और आनन्दस्वरूप है। पर यह ज्ञान पूर्व सस्कारों से ढका हुआ है। इन सब सस्कारो का क्षय होना आवश्यक है।

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

सूत्रार्थ—जिन उपायो से क्लेशो के नाश की वात (योग०२।१०) कही गई है, इन (सस्कारो) को भी ठीक उन्हीं उपायो से नष्ट करना होगा।

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघ.
समाधिः ॥ २९ ॥

सूत्रार्थ—तत्त्वो के विवेकज्ञान से उत्पन्न ऐश्वर्य में भी जिनका वैराग्य हो जाता है, उनका विवेकज्ञान सर्वथा प्रकाशमान रहने के कारण उन्हें धर्ममेघ समाधि प्राप्त हो जाती है।

व्याख्या—जव योगी इस विवेकज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं, तव उनके पास पूर्व अध्याय में वतलाई गई सिद्धियाँ आती हैं, पर सच्चे योगी इन सवका परित्याग कर देते है। उनके पास धर्ममेघ नामक एक विशेष प्रकार का ज्ञान, एक विशेष प्रकार का आलोक आता है। इतिहास ने ससार के जिन सव महान् धर्माचार्यो का वर्णन किया है, उन सभी को यह धर्ममेघ समाधि हुई थी। उन्होंने ज्ञान का मूल स्रोत अपने भीतर ही पाया था। सत्य उनके निकट अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रकाशित हुआ था। पूर्वोक्त सिद्धियो का अभिमान छोड़ देने के कारण

शान्ति, विनय और पूर्ण पवित्रता उनका स्वभाव ही बन गई थी।

तत: क्लेशकर्मनिवृत्ति: ।। ३० ।।

सूत्रार्थ—उस (धर्ममेघ समाधि) से क्लेश और कर्मों का सर्वथा नाश हो जाता है।

व्याख्या—जब यह धर्ममेघ समाधि होती है, तब पतन की आशका फिर नही रह जाती, तब योगी को कुछ भी नीचे नही खीच सकता। तब उनके लिए न कोई बुराई रह जाती हैं, न कोई कष्ट।

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ।। ३१ ।।

सूत्रार्थ—उस समय ज्ञान, सब प्रकार के आवरण और अशुद्धि से रहित होने के कारण, अनन्त हो जाता है, अत: ज्ञेय अल्प हो जाता है।

व्याख्या—ज्ञान तो भीतर मे ही है, केवल उसका आवरण चला जाता है। किसी बौद्ध शास्त्र ने 'बुद्ध' (यह एक अवस्था का सूचक है) शब्द की परिभाषा दी है—अनन्त आकाश के समान अनन्त ज्ञान। ईसा इस अवस्था की प्राप्ति कर ख्रीष्ट हो गए थे। तुम सभी उस अवस्था की प्राप्ति करोगे। तब ज्ञान अनन्त हो जायगा, अत: ज्ञेय अल्प हो जायगा। तब यह सारा जगत्, अपनी सब प्रकार की ज्ञेय वस्तुओं के साथ, पुरुष के समक्ष शून्य रूप से प्रतिभासित होगा। साधारण मनुष्य अपने को अत्यन्त क्षुद्र समझता है, क्योकि उसको ज्ञेय वस्तु अनन्त प्रतीत होती है।

तत: कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ।। ३२ ।।

सूत्रार्थ—जब गुणों का काम समाप्त हो जाता है, तब गुणों के जो विभिन्न परिणाम हैं, वे भी समाप्त हो जाते हैं।

व्याख्या—तब गुणो के ये सब विभिन्न परिणाम (एक जाति से उनकी दूसरी जाति मे परिणति) बिलकुल समाप्त हो जाते हैं।

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

सूत्रार्थ—जो सब परिणाम प्रत्येक क्षण से सम्बन्धित हैं, और जो दूसरे छोर में (अर्थात् एक परिणाम-परम्परा के अन्त में) समझ में आते हैं, वे क्रम हैं।

व्याख्या—पतंजलि ने यहाँ 'क्रम' शब्द की परिभाषा दी है। क्रम शब्द से उन सब परिणामो का बोध होता है, जो प्रत्येक क्षण से सम्बन्धित हैं। मै सोच रहा हूँ, इसमे कितने क्षण चले गए। इस प्रत्येक क्षण के साथ भाव का परिवर्तन होता है, पर मै उन सब परिणामो को एक श्रेणी के अन्त मे ही अर्थात् एक परिणाम-परम्परा के बाद ही पकड सकता हूँ। इसे क्रम कहते हैं। किन्तु जो मन सर्वव्यापी हो गया है, उसके लिए फिर क्रम नही रह जाता। उसके लिए सब कुछ वर्तमान हो गया है। उसके लिए केवल वर्तमान ही रहता है, भूत और भविष्य उसके ज्ञान से बिलकुल चले जाते हैं। तब वह मन काल पर विजय प्राप्त कर लेता है और उसके पास समस्त ज्ञान एक क्षण में आकर उपस्थित हो जाता है। उसके पास सब कुछ विद्युत् के समान झट से प्रकाशित हो जाता है।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति ॥ ३४ ॥

सूत्रार्थ—गुणो से जब पुरुष का कोई प्रयोजन नहीं रहता, तब प्रतिलोम-क्रम से गुणो के लय को कैवल्य कहते हैं, अथवा यो कहिए कि द्रष्टा (चित्शक्ति) का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना कैवल्य है।

व्याख्या—प्रकृति का काम समाप्त हो गया। हमारी परम कल्याणमयी धात्री प्रकृति ने इच्छापूर्वक जिस नि स्वार्थ कार्य का भार अपने कन्धो पर लिया था, वह समाप्त हो गया। उसने मानो आत्मविस्मृत जीवात्मा का हाथ पकडकर उसे धीरे-धीरे ससार के समस्त भोगो का अनुभव कराया, अपनी समस्त अभिव्यक्ति दिखाई, सारे विकार दिखाए, और इस प्रकार वह उसे विभिन्न शरीरो मे से ले जाते हुए क्रमश उच्च से उच्चतर अवस्था मे उठाती गई। अन्त मे आत्मा ने अपनी खोई हुई महिमा फिर से प्राप्त कर ली, अपना स्वरूप फिर से उसके मानस मे उदित हो गया। तब वह करुणामयी जननी जिस रास्ते से आई थी, उसी रास्ते से वापस चली गई और उन लोगो को रास्ता दिखाने मे प्रवृत्त हो गई, जो इस जीवन के पथचिह्नविहीन मरुभूमि में अपना पथ खो बैठे है। वह अनादि, अनन्त काल से इस प्रकार काम करती चली आ रही है। बस इसी प्रकार सुख और दु ख, भले और बुरे के बीच मे से होते हुए अनन्त नदीस्वरूप जीवात्मागण सिद्धि और आत्मसाक्षात्काररूप समुद्र की ओर चले जा रहे है।

जिन्होंने अपने स्वरूप का अनुभव कर लिया है, उनकी जय हो। वे हम सबको आशीर्वाद दें।

परिशिष्ट

योग के बारे मे अन्यान्य शास्त्रों के मत

श्वेताश्वतर उपनिषद्

द्वितीय अध्याय

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते ।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः ।।६।।

अर्थ—जहाँ अग्नि का मथन किया जाता है, जहाँ वायु को रुद्ध किया जाता है और जहाँ सोमरस की अधिकता होती है, वहीं (सिद्ध) मन की उत्पत्ति होती है।

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ।।८।।

अर्थ—वक्ष, ग्रीवा और शिर को उन्नत रखते हुए शरीर को सीधा रख, मन के द्वारा इन्द्रियो को हृदय मे सन्निविष्ट कर ज्ञानी व्यक्ति ब्रह्मरूप नौका के द्वारा सारे भयावह जल-प्रवाहो के पार हो जाते हैं।

प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत ।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः ।।९।।

अर्थ—संयुक्तचेष्ट मनुष्य प्राण को संयत करते हैं। जब वह शान्त हो जाता है, तब नाक के द्वारा प्रश्वास का परित्याग करते है। जिस प्रकार सारथि चंचल अश्वों को धारण करता है, उसी प्रकार अध्यवसायशील योगी भी मन को धारण करे।

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभि ।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ।।१०।।

अर्थ—जो समतल और शुचि हो, पत्थर, आग और बालू

से रहित हो, मनुष्य द्वारा किए गए या किसी जलप्रपात से उत्पन्न मन को चचल कर देने वाले शब्दो से वर्जित हो, तथा मन के अनुकूल और आँखो को सुखकर हो, ऐसे पर्वतगुहा आदि निर्जन स्थान में बैठकर योग का अभ्यास करना चाहिए ।

नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।
एतानि रूपाणि पुर सराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥११॥

अर्थ—नीहार, धूम, सूरज, वायु, आग, जुगनू, विद्युत्, स्फटिक, चन्द्रमा—ये सब रूप सामने आकर क्रमश योग में ब्रह्म को अभिव्यक्त करते है ।

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पंचात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्यु प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥१२॥

अर्थ—जब पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पचभूतो से योग की अनुभूतियाँ होने लगती है, तब समझना चाहिए कि योग आरम्भ हो गया है। जिन्हे इस प्रकार का योगाग्निमय शरीर प्राप्त हो गया है, उनके लिए फिर बीमारी, जरा या मृत्यु नही रहती ।

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसाद स्वरसौष्ठवं च ।
गन्ध शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्ति प्रथमां वदन्ति ॥१३॥

अर्थ—शरीर की लघुता, स्वास्थ्य, लोभशून्यता, सुन्दर रग, स्वर-सौन्दर्य, मल-मूत्र की अल्पता तथा शरीर की एक सुन्दर सुगन्ध—इन सबको योग की पहली सिद्धि कहते हैं ।

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत् सुधान्तम् ।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एक. कृतार्थो भवते वीतशोक ॥१४॥

अर्थ—जिस प्रकार मिट्टी से सना हुआ सोने या चाँदी

का टुकडा शोधन किए जाने पर तेजोमय होकर चमकने लगता है, उसी प्रकार देही आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर अद्वितीय, कृतकृत्य और शोकरहित हो जाता है।

शंकर-उद्धृत याज्ञवल्क्य

आसनानि समभ्यस्य वाञ्छितानि यथाविधि ।
प्राणायामं ततो गार्गि जितासनगतोऽभ्यसेत् ॥
मृद्वासने कुशान् सम्यगास्तीर्याजिनमेव च ।
लम्बोदरं च संपूज्य फलमोदकभक्षणैः ॥
तदासने सुखासीनः सव्ये न्यस्येतरं करम् ।
समग्रीवशिराः सम्यक् संवृतास्यः सुनिश्चलः ॥
प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि नासाग्रन्यस्तलोचनः ।
अतिभुक्तमभुक्तं च वर्जयित्वा प्रयत्नतः ॥
नाडीसंशोधनं कुर्यादुक्तमार्गेण यत्नतः ।
वृथा क्लेशो भवेत्तस्य तच्छोधनमकुर्वतः ॥
नासाग्रे शशभृद्बीजं चन्द्रातपवितानितम् ।
सप्तमस्य तु वर्गस्य चतुर्थं बिंदुसंयुतम् ॥
विश्वमधस्थमालोक्य नासाग्रे चक्षुषी उभे ।
इडया पूरयेद्वायुं बाह्यं द्वादशमात्रकैः ॥
ततोऽग्निं पूर्ववद्ध्यायेत् स्फुरज्ज्वालावलीयुतम् ।
रेफं च बिन्दुसंयुक्तं शिखिमण्डलसंस्थितम् ॥
ध्यायेद्विरेचयेद्वायुं मन्दं पिंगलया पुनः ।
पुनः पिंगलयापूर्य प्राणं दक्षिणतः सुधीः ॥
तद्वद्विरेचयेद्वायुमिडया तु शनैः शनैः ।
त्रिचतुर्वत्सरं चापि त्रिचतुर्मासमेव वा ॥

गुरुणोक्तप्रकारेण रहस्येवं समभ्यसेत् ।
प्रातर्मध्यंदिने सायं स्नात्वा षट्कृत्व आचरेत् ॥
सन्ध्यादिकर्म कृत्वैव मध्यरात्रेऽपि नित्यशः ।
नाडीशुद्धिमवाप्नोति तच्चिह्नं दृश्यते पृथक् ॥
शरीरलघुता दीप्तिर्जठराग्निविवर्धनम् ॥
नादाभिव्यक्तिरित्येतल्लिंगं तच्छुद्धिसूचनम् ॥

* * *

प्राणायामं ततः कुर्याद्रेचपूरककुम्भकैः ॥
प्राणापानसमायोगः प्राणायामः प्रकीर्तित. ॥

* * *

पूरयेत् षोडशैर्मात्रैरापादतलमस्तकम् ॥
मात्रैर्द्वात्रिंशकैः पश्चाद्रेचयेत् सुसमाहितः ॥
सम्पूर्णकुम्भवद्वायोर्निश्चल मूर्वदेशतः ।
कुम्भक धारणं गार्गि चतु.षष्ट्या तु मात्रया ॥
ऋषयस्तु वदन्त्यन्ये प्राणायामपरायणाः ।
पवित्रभूताः पूतान्त्रा. प्रभञ्जनजये रता ॥
तत्रादौ कुम्भकं कृत्वा चतु.षष्ट्या तु मात्रया ।
रेचयेत् षोडशैर्मात्रैर्नासेनैकेन सुन्दरि ॥
तयोश्च पूरयेद्वायुं शनै. षोडशमात्रया ।

* * *

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषान् ।
प्रत्याहाराच्च संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥

व्याख्या—यथाविधि वांछित आसनों का अभ्यास करके, तदनन्तर, हे गार्गि, आसन पर जय प्राप्त कर प्राणायाम का

अभ्यास करना चाहिए। कोमल आसन पर सम्यक् प्रकार से कुश बिछा, उस पर मृगचर्म बिछाकर, फल और मोदक आदि के द्वारा गणेश की पूजा करके, उस आसन पर सुखासीन होकर, बाएँ हाथ पर दाहिना हाथ रखकर, समग्रीवशिर हो, मुँह बन्द करके, निश्चल होकर, पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके बैठकर, नासाग्र मे दृष्टि को स्थापित करके, यत्नपूर्वक अतिभोजन या एकदम अनाहार का त्याग कर पूर्वोक्त प्रकार से यत्नपूर्वक नाडी का शोधन करे, यह नाड़ी शोधन न करने पर उसके साधन के सारे क्लेश निष्फल होते है। पिंगला और इड़ा के संयोगस्थल मे (दाहिनी और बाईं नाक के सयोग-स्थल मे) 'हु' बीज का चिन्तन करके इडा के द्वारा द्वादश-मात्रा-क्रम से बाह्य वायु को भीतर खीचे, उसके बाद उस स्थान मे अग्नि का चिन्तन तथा 'र' बीज का ध्यान करे, इस तरह ध्यान करने के समय धीरे-धीरे पिंगला (दाहिनी नाक) के द्वारा वायु का रेचन करे। पुन पिंगला के द्वारा पूरक करके पूर्वोक्त प्रकार से धीरे-धीरे इडा के द्वारा रेचन करे। श्रीगुरु के उपदेशानुसार इसका तीन-चार वर्ष या तीन-चार मास अभ्यास करे। प्रात काल, मध्याह्न, सायकाल तथा मध्यरात्रि में, जब तक नाडीशुद्धि नही हो जाती, तब तक एकान्त में अभ्यास करना होगा। तब उनमें ये सब लक्षण प्रकाशित होते हैं, जैसे, शरीर का हल्कापन, सुन्दर वर्ण, क्षुधा तथा नादश्रवण। तत्पश्चात् रेचक, कुम्भक और पूरकात्मक प्राणायाम करना होगा। अपान के साथ प्राण का योग करने का नाम है प्राणायाम। १६ मात्राओ में मस्तक से लेकर पद तक पूरक, ३२ मात्राओ मे रेचक और ६४ मात्राओ में कुम्भक करे।

और एक प्रकार का प्राणायाम है, उसमे पहले ६४ मात्राओ मे कुम्भक, फिर ३२ मात्राओ मे रेचक और तत्पश्चात् १६ मात्राओ मे पूरक करना पडता है, प्राणायाम के द्वारा शरीर के सारे दोष दग्ध हो जाते है। धारणा से मन की अपवित्रता दूर हो जाती है, प्रत्याहार से सग-दोष नष्ट हो जाता है तथा ध्यान से आत्मा के ईश्वरभाव को आवृत कर रखनेवाला सारा आवरण नष्ट हो जाता है।

सांख्य-प्रवचन-सूत्र

तृतीय अध्याय

भावनोपचयात् शुद्धस्य सर्वं प्रकृतिवत् ॥२९॥

अर्थ—गभीर ध्यान के बल से, शुद्धस्वरूप पुरुष के पास प्रकृति की सारी शक्तियाँ आ जाती है।

रागोपहतिर्ध्यानम् ॥३०॥

अर्थ—आसक्ति के नाश को ध्यान कहते है।

वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धिः ॥३१॥

अर्थ—ध्यान की सिद्धि समस्त वृत्तियो के निरोध से होती है।

धारणासनस्वकर्मणा तत्सिद्धि ॥३२॥

अर्थ—धारणा, आसन और अपने कर्तव्य-कर्मो के पालन से ध्यान सिद्ध होता है।

निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम् ॥३३॥

अर्थ—श्वास की छर्दि (त्याग) और विधारण (धारण) के द्वारा प्राणवायु का निरोध होता है।

स्थिरसुखमासनम् ॥३४॥

अर्थ—जिससे स्थिर और सुखकर रूप से बैठा जा सके, उसका नाम आसन है।

वैराग्यादभ्यासाच्च ॥३६॥

अर्थ—वैराग्य और अभ्यास से भी (ध्यान सिद्ध होता है)।

तात्त्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागाद्विवेकसिद्धिः ॥७४॥

अर्थ—प्रकृति के प्रत्येक तत्त्व को 'यह नही', 'यह नही', ऐसा कहकर त्याग सकने से विवेक सिद्ध होता है।

चतुर्थ अध्याय

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥३॥

अर्थ—वेद मे एक से अधिक बार श्रवण का उपदेश है, अतएव पुन -पुन श्रवण आवश्यक है।

श्येनवत् सुखदुःखी त्यागवियोगाभ्याम् ॥५॥

अर्थ—जैसे बाज पक्षी, मास छीन लिए जाने पर, दु खी और स्वय इच्छापूर्वक उसको त्याग देने से सुखी होता है, (वैसे ही साधु पुरुष इच्छापूर्वक सबका त्याग करके सुखी होते हैं)।

अहिनिर्ल्वयनीवत् ॥६॥

अर्थ—जैसे सर्प शरीरस्थ जीर्ण केचुली को हेय समझकर अनायास त्याग देता है।

असाधनानुचिन्तनं बन्धाय भरतवत् ॥८॥

अर्थ—जो विवेकज्ञान का साधन नही है, उसका चिन्तन न करे, क्योकि वह बन्धन का हेतु है; दृष्टान्त—राजा भरत।

बहुभिर्योगे विरोधो रागादिभि कुमारीशंखवत् ॥९॥

अर्थ— बहुत से लोगो का सग, रागादि का कारण होने से, ध्यान में विघ्नस्वरूप है, दृष्टान्त—कुमारी के हाथ में शख के कंगन।

द्वाभ्यामपि तथैव ॥१०॥

अर्थ—दो मनुष्यो के एक साथ रहने पर भी ऐसा ही है।

निराश सुखी पिंगलावत् ॥११॥

अर्थ—आशा को त्याग देनेवाला सुखी होता है; दृष्टान्त—पिंगला नाम की वेश्या।

बहुशास्त्रगुरूपासनेऽपि सारादानं षट्पदवत् ॥१३॥

अर्थ—जिस प्रकार मधुकर बहुत से फूलो से मधु सग्रह करता है, उसी प्रकार यद्यपि बहुत से शास्त्रो और गुरुओ की उपासना की जाती है, तो भी उनमें से केवल सार को लेना चाहिए।

इषुकारवन्नैकचित्तस्य समाधिहानिः ॥१४॥

अर्थ—बाण बनानेवाले के समान एकाग्रचित्त रहने पर समाधि भग नही होती।

कृतनियमलंघनादानर्थक्यं लोकवत् ॥१५॥

अर्थ—जैसे लौकिक विषय में कृतनियमो का उल्लंघन करने पर महा अनर्थ होता है, वैसे ही इसमे भी।

प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्वा सिद्धिर्बहुकालात्तद्वत् ॥१९॥

अर्थ—प्रणति, ब्रह्मचर्य और गुरुसेवा के द्वारा, इन्द्र के समान, बहुत समय के बाद सिद्धि प्राप्त होती है।

न कालनियमो वामदेववत् ॥२०॥

अर्थ—ज्ञानोत्पत्ति का कोई कालनियम नही है। जैसे, वामदेव मुनि को (गर्भावस्था मे ज्ञान का उदय) हुआ था।

लब्धातिशययोगाद्वा तद्वत् ॥२४॥

अर्थ—जिस मनुष्य ने अतिशय यानी ज्ञान की पराकाष्ठा

को प्राप्त कर लिया है, उसके सग के द्वारा भी विवेक प्राप्त होता है।

न भोगात् रागशान्तिर्मुनिवत् ॥२७॥

अर्थ—जिस प्रकार भोग से सौभरि मुनि की आसक्ति दूर नही हुई थी, उसी प्रकार दूसरो की भी भोग के द्वारा आसक्ति नष्ट नही होती।

पंचम अध्याय

योगसिद्धयोऽप्यौषधादिसिद्धिवन्नापलपनीयाः ॥१२८॥

अर्थ—औषधि आदि के द्वारा आरोग्यसिद्धि होने के कारण जिस प्रकार मनुष्य औषधि आदि की शक्ति को अस्वीकार नहीं करते, उसी प्रकार योगज सिद्धि को भी अस्वीकार नही किया जा सकता।

षष्ठ अध्याय

स्थिरसुखमासनमिति न नियम. ॥२४॥

अर्थ—स्वस्तिक आदि आसन का अभ्यास करना ही पड़ेगा, ऐसा कोई नियम नही है। जिस प्रकार बैठना सुखकर हो और जिससे शरीर और मन विचलित न हो, वही आसन है।

व्याससूत्र

चतुर्थ अध्याय—प्रथम पाद

आसीनः सम्भवात् ॥७॥

अर्थ—उपासना बैठकर ही सम्भव है, अत. बैठकर उपासना करनी चाहिए।

ध्यानाच्च ॥८॥

अर्थ—ध्यान के कारण भी (बैठे हुए, अग-सचालन-क्रिया से रहित इत्यादि लक्षणयुक्त पुरुष को देखकर लोग कहते हैं,

'ये ध्यान कर रहे हैं', अतएव ध्यान बैठे हुए पुरुष में ही सम्भव है)।

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥९॥

अर्थ—क्योकि ध्यानी पुरुष की तुलना निश्चल पृथ्वी के साथ की गई है।

स्मरन्ति च ॥१०॥

अर्थ—क्योकि स्मृति में भी यही बात कही गई है।

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥११॥

अर्थ—जहाँ एकाग्रता होती हो, उसी स्थान में बैठकर ध्यान करना चाहिए, कारण, किस स्थान मे बैठकर ध्यान करना होगा इसका कोई विशेष विधान नही है।

इन कुछ उद्धृत अशो को देखने से यह ज्ञात हो जायगा कि अन्यान्य भारतीय दर्शन योग के बारे में क्या कहते है।

---

२८ व्यावहारिक जीवन में वेदान्त (द्वि. स) १.१५
२९ विविध प्रसग १.१२
३० धर्मरहस्य (तृ स) १ २५
३१ जाति, सस्कृति और समाजवाद (द्वि स) १ २५
३२ स्वाधीन भारत! जय हो! (तृ स) १ ५०
३३ विवेकानन्दजी की कथाएँ (तृ स) १ ६०
३४ चिन्तनीय बातें १.००
३५ भगवान् रामकृष्ण, धर्म तथा सघ (द्वि स) [illegible]
३६ शिक्षा (तृ स) ०.६२
३७ कवितावली (द्वि स) ०.६२
३८ हमारा भारत (द्वि स) ० ६५
३९ मेरे गुरुदेव (प स) ० ६२
४०. वर्तमान भारत (प स) ० ५०
४१ शिकागो वक्तृता (सप्तम स) ०.६२
४२ हिन्दू धर्म के पक्ष में (तृ स) ० ७५
४३ मरणोत्तर जीवन (तृ स) ० ५०
४४. मेरा जीवन तथा ध्येय (तृ स) ०.५०
४५ मन की शक्तियाँ तथा जीवन-गठन की साधनायें (तृ. स.) ० ४०
४६. भारतीय नारी (च स) ०.७५
४७ पवहारी बाबा (द्वि स) ० ५०
४८. ईशदूत ईसा (द्वि स.) ०.४०
४९. विवेकानन्दजी के सान्निध्य में, ० ९०

पॉकेट साइज पुस्तकें

५० शक्तिदायी विचार (तृ. स.) ० ६२
५१ मेरी समरनीति (द्वि स) ० ६५
५२ विवेकानन्दजी के उद्‌गार (द्वि स.) ० ६५
५३ श्रीरामकृष्ण-उपदेश—स्वामी ब्रह्मानन्द द्वारा सकलित, (च. स) ० ७५
५४. रामकृष्ण सघ— आदर्श और इतिहास—(द्वि. स.) स्वामी तेजसानन्द, ० ७५
५५ साधु नागमहाशय (भगवान् श्रीरामकृष्ण के अन्तरग गृही शिष्य का जीवन-चरित) १ ५०
५६ गीतातत्त्व—स्वामी सारदानन्द, २ ३७
५७ भारत में शक्ति-पूजा——स्वामी सारदानन्द, १ २५
५८ वेदान्त—सिद्धान्त और व्यवहार, (द्वि स) स्वामी सारदानन्द ० ५०

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर–१